श्रीमज्जवाहिराचार्य आज इस भूतल पर विद्यमान नहीं हैं। अतः उनके द्वारा शास्त्रानुकूल रचित इन ढालों का अनुवाद करने में कोई त्रुटि रह गई हो अथवा उनका आशय स्पष्ट रूप से व्यक्त न हुआ हो या अर्थ विपर्यास हो गया हो तो इसका उत्तरदायित्व मुझ (अनुवादक) पर है। इस विषय में कहीं से भी सूचना मिलने पर आगामी आवृत्ति में उचित संशोधन कर दिया जायगा।

निवेदकः—

पं० घेवरचन्द्र बाँठिया 'वीरपुत्र'

न्याय-व्याकरणतीर्थ

जैनसिद्धान्तशास्त्री

बीकानेर

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का

हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम

का

★ संक्षिप्त परिचय ★
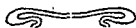
मण्डल की स्थापना सं० १९७८ आश्विन कृष्णा ११

—: वर्तमान पदाधिकारी :—

प्रेसिडेन्ट—श्रीमान् सेठ हीरालालजी साहब नांदेचा
वाइस प्रेसिडेन्ट—श्रीमान् बालचन्दजी साहब श्रीश्रीमाल
खजाञ्ची—श्रीमान् सेठ वर्धीचन्दजी बरदभाणजी
सञ्चालक—श्रीमान सुजाणमलजी साहब गादिया

—: मण्डल की चालू प्रवृत्तियाँ :—

१—श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड का सञ्चालन
२—श्री शिक्षा संस्थाओं का सञ्चालन
३—श्री जवाहिराचार्य के प्रवचनों का संग्रह
४—उक्त:प्रवचनों में से साहित्य का सम्पादन व प्रकाशन
५—न्यायपूर्ण सरल एवं सत्य सिद्धान्तों का प्रचार

—: सदस्य क्रम :—

५०१) एक साथ या इस से अधिक देने वाले वंशपरम्परा के सदस्य।
१०१) से पांच सौ तक देने वाले आजीवन सदस्य।
२) देने वाले वार्षिक सदस्य, देते रहें वहां तक।

★ वक्तव्य ★

श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब द्वारा रचित अनुकम्पा की ढालों का प्रकाशन पहले विविध आकार में हो चुका है, किन्तु वह मूल ढालों तक ही सीमित रहा और ढालें मारवाड़ी भाषा में होने से अन्य प्रान्त वाले पूरी तरह ढालों के भावों को समझ नहीं पाते इसलिये सं० २००३ में बगड़ी की बैठक में मण्डल ने इसका हिन्दी में सरल भावार्थ कथाओं के अनुसन्धान सहित नया २ करा कर प्रकाशित करने का ठहराया था। तदनुसार नव ढालों में से पांच ढालें तो प्रथम भाग में आपके कर-कमलों में पहुंच चुकी हैं शेष चार ढालें इस द्वितीय भाग में हैं। जो आपके कर कमलों में प्रस्तुत हैं।

इस सम्बन्धी हमारा विशद वक्तव्य प्रथम भाग में आ चुका है अतः पुनरावर्तन की जरूरत नहीं है। छपाई आदि का खर्च वर्तमान मंहगाई के कारण अधिक बैठता है। किन्तु यह पुस्तक जन साधारण को उपयोगी होने से इसका मूल्य लागत से भी कम रखा है और कमी श्री जवाहिर स्मारक साहित्य फण्ड में से की गई है। हम आशा रखते हैं कि जनता इसे अपनाकर जैन-धर्म के दया दान के मूलभूत सिद्धान्तों को यथावत् समझ कर लाभ उठावें।

उक्त पुस्तक का अनुवाद करने में श्रीमान घेवरचन्दजी साहब बांठिया 'वीरपुत्र' ने जो सुन्दर सहयोग दिया है, उसके लिये हम उनके आभारी हैं। इत्यलम्

श्री जैन हितेच्छु श्रावक-मण्डल,
आॅफिस—चाँदनी चौक-रतलाम
मिति आश्विन पूर्णिमा सं० २००५ वि०

भवदीयः—
हीरालाल नांदेचा
प्रमुख—
बालचन्द श्रीश्रीमाल
उपप्रमुख—

जैन दर्शन में एक अनोखा पंथ

❀ संक्षिप्त परिचय ❀

श्री वीतराग प्रणीत, दया एवं दान के प्रतिपादक, जगत् के जीवों को सुखदायक जैनधर्म के अन्दर भी एक वर्ग ऐसा है जो धर्म के प्रधान अङ्गभूत दया एवं दान का मनमाना अर्थ करके विशुद्ध ज्ञानरहित भोले भद्र प्राणियों के हृदय में से प्राणि-रक्षा एवं प्राणि-पोषण के स्रोत को सुखा डालता है।

दान में तो अपने (साधु) सिवाय सभी को कुपात्र बताकर भावुक जीवों के हृदय को कठोर बनाता है और दया का अर्थ केवल स्वयं किसी प्राणी को न मारना—इतना ही संकुचित अर्थ करके दूसरों के द्वारा मारे जाने वाले प्राणी की रक्षा करने (बचाने) का निषेध करता है और मरते हुए प्राणियों को बचाने में पापोपार्जन का भूत बताकर दुख से पीड़ित आत्मा के प्रति सहानुभूति एवं सद्भावना को भी रोकता है। ऐसा पन्थ-समाज इस आर्यावर्त्त देश का भारी अहित करता है। इस मत के अनुयायियों को जिनके प्रबल मिथ्यात्व मोहनीय का उदय है, ऐसे कुगुरुओं ने मारवाड़ी भाषा में कुछ ढालें बनाकर तथा "भ्रम-विध्वंसन" जैसे ग्रन्थ बनाकर उसमें मनगढ़न्त मन्तव्य एवं तर्क कायम कर सच्चे शास्त्रीय ज्ञान से वे मुमुक्षुओं को वंचित रखते हैं। इनके मन्तव्यों का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस प्रकार है जो किसी सिद्धान्त से मेल नहीं खाता और जन-साधारण भी जिनको पसन्द नहीं करता। यथा तेरहपन्थियों का कथन है :—

१—जैनशास्त्रों में अहिंसा को धर्म माना है। किन्तु बहुत से लोग अहिंसा में रक्षा और दया को अन्तर्गत करके

हीन-दीन दुःखी जीवों की रक्षा करने के लिए दान दिया करते हैं। इसी तरह कसाई आदि हिंसकों के द्वारा मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षा करने के लिए हिंसक को रुपये-पैसे देकर या बलप्रयोग द्वारा उन प्राणियों को छुड़ाते हैं। इस तरह कार्य करने वाले समझते हैं कि मेरा यह कार्य धर्मजनक है परन्तु वे भूल में हैं। वे धर्म के रहस्य को नहीं जानते हैं। अहिंसा शब्द का अर्थ यह है कि अपनी ओर से किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए। अहिंसा शब्द निवृत्तिवाचक है, इसीलिए हिंसा न करना ही इस शब्द का वास्तविक अर्थ है।

जैन-शास्त्रों में 'रक्षा' और 'दया' आदि शब्द भी पाये जाते हैं। उनका अर्थ भी 'स्वयं' किसी प्राणी को न मारना ही समझना चाहिए। दूसरे प्राणी के द्वारा मारे जाते हुए प्राणी को बचाने के लिए प्रवृत्ति करना अहिंसा धर्म नहीं है। यह तो एक प्रवृत्ति-प्रधान दूसरा ही धर्म है। जिसका विधान जैन-शास्त्रों में कहीं नहीं पाया जाता है। यद्यपि भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थावस्था में वैश्यायन बालतपस्वी के द्वारा जलाये जाते हुए गोशालक की रक्षा की थी। परन्तु उस दृष्टान्त से मरते हुए प्राणियों की प्राणरक्षा करने में धर्म स्थापन करना बड़ी भारी भूल है क्योंकि जब भगवान् महावीर स्वामी को केवल-ज्ञान उत्पन्न हो चुका था, उस समय उनके सामने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनि को गोशालक ने जला दिया था। परन्तु भगवान् ने उनकी रक्षा न की। भगवान् के केवली अवस्था के इस उदाहरण से मरते प्राणी की प्राणरक्षा करना कर्त्तव्य सिद्ध नहीं होता। इस उदाहरण से स्पष्ट सिद्ध होता है कि छद्मस्थ अवस्था में सर्वज्ञ न होने के कारण भूलकर उन्होंने यह काम किया है।

अतः हिंसक द्वारा मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करने में धर्म बताना मूर्खों का काम है।

२—हीन, दीन दुःखी जीवों को दयालु पुरुष सहायता दिया करते हैं और इस कार्य को वे पुण्यजनक मानते हैं। परन्तु तेरहपन्थी साधु इसे कुपात्र दान ठहरा कर श्रावकों से इसका त्याग कराते हैं। तेरहपन्थियों की मान्यता है कि साधु से भिन्न संसार के समस्त प्राणी कुपात्र हैं। इस विषय में भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७६ और ८२ में विस्तारपूर्वक लिखा है। पृष्ठ ७६ में लिखा है कि 'साधु थी अनेरो कुपात्र छे।' पृष्ठ ८२ में लिखा है कि 'कुपात्र-दान, मांसादि सेवन, व्यसन, कुशीलादिक ये तीनों ही एक मार्ग के पथिक हैं।' इत्यादि।

३—इसी तरह पुत्र माता-पिता की, पतिव्रता पति की और विद्यार्थी गुरु आदि की जो सेवा सुश्रूषा, सम्मान आदि करते हैं—इसे भी तेरहपन्थी एकान्त पाप बतलाते हैं। इनकी उक्त मान्यता भी अज्ञान से भरी हुई है। भगवान् ने श्री उववाई सूत्र में बताया है कि 'अम्मापिउ सुस्सूसगा' इत्यादि। यह पाठ देकर माता-पिता की सेवा करने वाले पुत्र को स्वर्गगामी कहा है। शास्त्र के अनुसार माता-पिता आदि की सेवा से पुण्यबन्ध होता है। यह बात शास्त्र-सिद्ध होने पर भी तेरहपन्थी बन्धु पितृ-भक्ति को एकान्त पाप बता कर संसार से सेवा का लोप करना चाहते हैं किंतु विद्वज्जनों को यह मान्यता अज्ञानपूर्ण ही समझना चाहिए।

और भी इनके खुले मतव्य देखिये :—

—: दया और दान का संकुचित अर्थ :—

"साधु थी अनेरो कुपात्र छे। अनेरा ने दीधां अनेरी प्रकृति नो बंध कह्यो ते अनेरी प्रकृति पाप नी छे।"

भ्रमविध्वंसनम् पृ० ७१

"कुपात्र दान, मांसादिक सेवन, व्यसन कुशीलादिक यह तीनों एक ही मार्ग के पथिक हैं। जैसे चोर, जार, ठग यह तीनों समान व्यवसायी हैं। उसी तरह जयाचार्य सिद्धान्तानुसार कुपात्र दान भी माँसादि सेवन व्यसन कुशीलादिक की श्रेणी में गिनने योग्य है।"

भ्रमविध्वंसनम् पृ० ८२ (संशोधक)

"केतलां एक जिन आज्ञाना अजाण छे, ते साधु अग्नि मांही बलता ने कोई गृहस्थी बांहें पकड़ ने बाहिर काढे तथा साधुरी फांसी कोई गृहस्थ कापे तिण में धर्म कहे छे।"

भ्रमविध्वंसनम् पृ० २६७

यदि कोई गृहस्थ अग्नि में जलते साधु की बांह पकड़कर बाहर निकाल देता है या साधु की फांसी काट देता है तो इसमें धर्म कहने वाले जिन आज्ञा के अजाण हैं।

कुपात्र जीवां ने बचावियां, कुपात्र ने दिये दानजी ।
ओ सावद्य कर्त्तव्य संसार नो, भाख्यो छे भगवान्जी ॥

अनुकम्पा ढाल १२ कड़ी १०

संसार रो उपकार किया में, जिनधर्म रो नहीं अंश लिगार ।
संसार तणां उपकार किया में, धर्म कहे ते मूढ़ गँवार ॥

अनु० ढाल ११ कड़ी ३६

तेरहपंथी भाइयो ! आपके मत से सांसारिक कर्त्तव्य या लौकिक उपकार में धर्म कहने वाला मूढ़ और गँवार है ? इन कार्यों में धर्म नहीं हुआ तो पुण्य भी नहीं हुआ क्योंकि धर्म के बिना कोरा पुण्य मानते नहीं हैं। भावार्थ यही निकला कि लौकिक उपकार करने से पापरूप ही फल हुआ। यही निश्चित मान्यता है और इसी को ये छिपाते हैं। "लोकभय से सिद्धान्त गोपन करना कायरता है। नींव मजबूत है, सिद्धान्त सही है, तब डर किस बात का !" तो क्यों नहीं स्पष्ट कह देते कि लोकधर्म के पालन करने का फल पापबन्ध है । आप लोकधर्म तो कहते हैं मगर उसका फल क्यों नहीं बताते ? फल बताने में लुका-छिपी क्यों ? भारतीय ऋषि मुनियों ने पुण्य, पाप और धर्मरूप तीन फल बताये हैं। हम इन्हीं तीन में से उत्तर चाहते हैं।

स्तन-पान न कराना तो आपने पाप बताया है मगर स्तन पान कराने का फल क्यों नहीं बताया ? भक्त पान का विच्छेद करने से आत्मधर्म की घात होती है मगर भक्त-पान देने से क्या फल होता है ? यह क्यों छिपाते हैं ?

'प्रतिहिंसा का नाम लेकर तथा मदिरा, मांस और स्त्री-सेवन से सुख पहुँचाने की बात कहकर रक्षा और सहायता को

उड़ाना चाहते हैं यह अनुचित है। क्या आप बिना प्रतिहिंसा के रक्षा करने में और मदिरा, मांस व इत्यादि सेवन के सिवाय अन्य साधनों से किसी को साता पहुंचाने में धर्म मानते हैं? आप तो रक्षामात्र में पाप मानते हैं। चाहे शुद्ध साधन से रक्षा की गई हो। क्योंकि आपकी मान्यता है कि असंयती जीव जिंदा रहकर जो पाप करता है वह पाप रक्षक को लगता है।

वर्तमान में अन्तराय देने में आप पाप मानते हैं मगर भविष्य के लिए दीन, हीन दुःखी जनों के लिए दान का दरवाजा बंद करने में पाप क्यों नहीं मानते? आपके पूर्वाचार्य दान देने का त्याग करने का उपदेश देते थे जैसे कि कहा है :—

अव्रत में दान देवा तणो, कोई त्याग करे मन शुद्धजी।
त्यांरो पाप निरन्तर टालियो, त्यांरी वीर बखाणी बुद्धजी॥

श्रावक-धर्म-विचार पृ० १३१

अब प्रश्न यह रहा कि क्या श्वे० तेरहपन्थी गृहस्थ परोपकार के कार्य नहीं करते! करते भी हैं मगर शर्माशर्मी और पाप समझकर। छाती में धड़कन लाकर पश्चात्ताप करते हुए। जैसे कि कहा है :—

अव्रत में देताँ थकाँ, पड़े श्रावक रे मन धरकजी।
काम पड़े अव्रत में दान रो, जब देवो ही शरमाशर्मजी॥
पछे करे पछतावो तेहनुं, कांइक ढीला पड़े कर्मजी।
अव्रत में दान दे तेहनुं, टालन रो करे उपायजी॥
जाणे कर्म बंधे छै म्हांय रे, मोंने भोगवतां दुःखदायजी।
अव्रत में दान देताँ थकाँ, बंधे आठूं ही पापकर्मजी॥

श्रावक-धर्म-विचार पृ० १३०

साधु के सिवाय सब प्राणी अव्रती हैं। उनको दान देने से आठों ही 'पापकर्म' बंध जाते हैं। बन्धुओ ! फिर भी यह कहते हैं हम कहाँ मना करते हैं। यह ऊपर की ढाल दान के लिए प्रोत्साहन दे रही है या दान का दरवाजा बन्द कर रही है ? पाठक सोचें।

उपरोक्त लोक-विरुद्ध मान्यताओं का समाधान एवं सन्मार्ग-दर्शन कराने के लिए ही स्वर्गीय पूज्य श्री ने उन्हीं की शैली से ढालों की रचना एवं 'सद्धर्म-मण्डन' ग्रंथ रचकर जनता का आवरण दूर किया है। ऐसे महापुरुष हमारे लिए परमोपकारी हैं, उनका जितना उपकार मानें कम ही है, उनका उपकार अनन्त हैं।

श्री धर्मरक्षक समिति के सदस्य,

रतलाम

—❀ विषय सूची ❀—

—०—

❋ श्री वीतरागाय नमः ❋

-ः अनुकम्पा-विचार

(द्वितीय भाग)

❀ दोहा ❀

साधु जीव मारे नहीं, पर ने न कहे मार।
भलो न जाणे मारियां, त्रिकरण शुद्ध विचार ॥ १ ॥

भावार्थः—साधु किसी जीव को स्वयं मारते नहीं और दूसरों से मरवाते नहीं अर्थात् जीव को मारने के लिए दूसरों को कहते नहीं तथा जीव मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते। इस प्रकार साधु तीन करण तीन योग से हिंसा के त्यागी होते हैं ॥१॥

हणे, हणावे, भल गणे, परजीवाँ रा प्राण।
तीन करण हिंसा कही, श्री जिन वचन प्रमाण ॥ २ ॥

भावार्थः—"जो जीवों को स्वयं मारता है, दूसरों से मरवाता है और जीवों को मारने वाले का अनुमोदन करता है वह पुरुष तीन करण से अर्थात् करना, कराना और अनुमोदना इन

तीन करण से हिंसा के पाप का भागी होता है।" ऐसा भी तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है ॥२॥

बोले, बोलावे, भल कहे, सावद्य कूड़ा वेण।
तीनों करणे भूठ है, खोलो अन्तर नेण ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो स्वयं भूठ बोलता है, दूसरों से भूठ बोलाता है और भूठ बोलने वाले का अनुमोदन करता है वह तीनों करण से भूठ के पाप का भागी होता है ॥३॥

जिम सत बोले साधुजी, पर ने कहे तू बोल।
भल जाणे सत बोलियाँ, तीनों करण अमोल ॥ ४ ॥

तिम साधु बचावे जीव ने, पर ने कहे बचाय।
बचियां अनुमोदन करे, त्रिकरण शुद्ध कहाय ॥ ५ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार साधु स्वयं सत्य बोलते हैं, दूसरों से बोलाते हैं अर्थात् सत्य बोलने के लिए दूसरों को उपदेश देते हैं और सत्य बोलने वाले का अनुमोदन करते हैं। ये तीनों करण शुद्ध हैं उसी प्रकार साधु स्वयं जीव की रक्षा करते हैं, दूसरों से करवाते हैं अर्थात् जीव-रक्षा करने के लिए उपदेश देते हैं और जीवरक्षा करने वाले का अनुमोदन करते हैं; ये तीनों करण शुद्ध कहलाते हैं ॥४-५॥

(कहे) "सावज-सत्य न बोलणो, तिम न बचाणो जीव।
अनुकम्पा सावज हुवे," या कुगुरां री नींव ॥ ६ ॥

भावार्थः—"जिस प्रकार सावद्य सत्य न बोलना चाहिए उसी प्रकार जीवों की रक्षा भी न करनी चाहिए क्योंकि अनुकम्पा सावद्य है।" इस प्रकार कुगुरुओं का कथन है ॥६॥

(उत्तर) सावद्य-निरवद्य सूत्र में, सत्य रा भाख्या भेद।
पिण अनुकम्पा रा नहीं, तज दो खोटो खेद ॥७॥

भावार्थः—शास्त्रों में सत्य के सावद्य सत्य और निरवद्य सत्य इस प्रकार दो भेद कहे गये हैं किन्तु अनुकम्पा के सावद्य और निरवद्य ऐसे दो भेद नहीं बताये गये हैं। इसलिए अनुकम्पा के सावद्य और निरवद्य ऐसे दो भेद कहना शास्त्रविरुद्ध है ॥७॥

जिण बोले परजीव ने, दुख उपजे सुख नाँय।
ते सत् ने सावज कह्यो, सुगडायँग रे माँय ॥ ८ ॥
पर पीड़ाकारी नहीं, हितकारी सुखदाय।
ते सत् निरवद्य जाणज्यो, जिन शासन रे माँय ॥ ९ ॥
अनुकम्पा पर-जीव ना, प्राण बचावणहार।
दुख तिण थी उपजे नहीं, निरवद्य निश्चे धार ॥ १० ॥

भावार्थः—सूयगडांग सूत्र में बतलाया गया है कि जिस वचन से दूसरे जीवों को दुःख उत्पन्न हो वह सावद्य सत्य है और जो वचन दूसरों को पीड़ाकारी नहीं किन्तु हितकारी और सुखकारी हो वह निरवद्य सत्य है। इसी तरह अनुकम्पा दूसरे जीवों के प्राणों की रक्षा करने वाली है, अनुकम्पा से किसी को दुःख उत्पन्न नहीं होता। इसलिए अनुकम्पा सदा निरवद्य ही है। वह कभी सावद्य नहीं हो सकती। वही सत्य सावद्य कहा गया है जिससे दूसरे जीव को दुःख उत्पन्न हो अर्थात् दूसरों को दुःख

उत्पन्न करने वाला होने के कारण वह सावद्य है किन्तु अनुकम्पा से किसी जीव को दुःख उत्पन्न नहीं होता इसलिए वह सावद्य नहीं हो सकती ॥८-१०॥

भय मेट्यो परजीव नो, दान अभय प्रभु गाय।
तिण में पाप बतावियो, जैनी नाम धराय ॥ ११ ॥

भावार्थः—भय पाते हुए प्राणी के भय को मिटाना अभयदान है ऐसा श्री तीर्थङ्कर भगवान ने फरमाया है। उस अभयदान में जो पाप बताते हैं और फिर अपने आपको जैनी कहते हैं यह बड़े दुःख की बात है। अनुकम्पा एवं अभयदान में पाप बतलाने वाले जैनी नहीं किन्तु जैनाभास और जैनियों के कलङ्क हैं ॥११॥

अभयदान नहिं ओलख्यो, दीनी दया उठाय।
भोला ने भरमायवा, कूड़ा चोज लगाय ॥ १२ ॥

भावार्थः—अनुकम्पा एवं अभयदान में पाप बतलाने वाले मूर्खों ने अनुकम्पा और अभयदान के स्वरूप को पहचाना ही नहीं है। वे अपने मनगढ़न्त कुहेतु लगा कर दया दान को उठा रहे हैं और भोले जीवों को भ्रम में डाल रहे हैं ॥१२॥

(कहे) "जीव बचावे मुनि नहीं, परने न कहे बचाव।
भलो न जाणे बचावियां," इम खोटा खेले दाव ॥ १३ ॥

भावार्थः—वे कुगुरु कहते हैं कि "साधु स्वयं मरते प्राणी की प्राणरक्षा नहीं करते, दूसरों से रक्षा नहीं करवाते अर्थात् मरते प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिए दूसरों को उपदेश नहीं देते और जीवरक्षा करने वालों को भला भी नहीं जानते।" इस प्रकार कुगुरुओं का कथन है ॥१३॥

—: ढाल-छठी :—

(तर्ज—चतुर नर छोड़ो कुगुरु नो संग)

इण साधाँ रा भेख में जी,
बोले एहवी वाय ।
"छकाय रक्षा ना कराँजी,
जीव बचावाँ नाय ।।"
चतुर नर समझो ज्ञान विचार ।। १ ।।

एहवी करे परूपणा जी,
पिण बोले बन्ध न होय ।
बदल जाय पूछयाँ थकाँ जी,
ते भोलां ने खबर न कोय ।। चतुर० ।। २ ।।

भावार्थ:—साधु का भेप पहन कर कितनेक अज्ञानी इस प्रकार कहते हैं कि "हम छः काय जीवों की रक्षा नहीं करते हैं और मरते हुए किसी भी जीव को नहीं बचाते हैं।" इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं और भोले जीवों को भ्रम में डालते हैं किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि 'इनकी जबान का कोई ठिकाना नहीं है जब पण्डित पुरुष उनसे प्रश्न पूछते हैं तो वे बदल जाते हैं।' अर्थात् अपने कथन पर कायम नहीं रहते हैं ।।१-२।।

थारे पाणी रे पातरे जी,
माखाँ पड़िया आय।
दुःख पावे अति तड़फड़े जी,
जुदा होवे जीव काय ॥ चतुर० ॥ ३ ॥

साधु देखे तिण अवसरे जी,
कहो काढे के नाँय ?
तब तो कहे "झट काढणाजी,
नहिं काढयाँ अनरथ थाय ॥ चतुर० ॥ ४ ॥

(कदा) मूर्छाणी होवे माखियाँजी,
जतना से मूर्छा जाय।
(तो) कपड़ादिक में बाँधने जी,
मूर्छा देवाँ मिटाय" ॥ चतुर० ॥ ५ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि "तुम्हारे (भीषणमतानुयायी साधुओं के) जल के पात्र में मक्खियाँ पड़ गईं, वे दुःख पाती हुई तड़फड़ा रही हैं। तुम साधु लोग उन्हें देख रहे हो। अब बतलाओ तुम उन मक्खियों को बाहर निकालोगे या नहीं ?

इस प्रश्न का वे उत्तर देते हैं कि हम तुरन्त उन मक्खियों को बाहर निकालेंगे क्योंकि नहीं निकालने से अनर्थ होता है। हमारे जल के पात्र में पड़ने से कदाचित् वे मक्खियाँ मूर्च्छित हो गई हों तो यतनापूर्वक हम कपड़े आदि में बांध कर उनकी मूर्च्छा को मिटा देते हैं" ॥३-५॥

प्राणी नाँय बचावणा जी,
थें कहता एहवी वाय।
परतख माखां बचाविया जी,
थारी बोली में बन्धन कांय? ॥ चतुर ॥ ६ ॥

भावार्थः—तब उनसे पूछना चाहिए कि 'तुम लोग कहते थे कि हम किसी भी जीव को नहीं बचाते और मरते प्राणी की प्राणरक्षा नहीं करते। अब तुमने मक्खियों को क्यों बचाया ? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुम लोगों की जबान का कुछ भी ठिकाना नहीं है। कहते कुछ और हो और करते कुछ और अर्थात् भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए कहते तो यह हो कि 'हम किसी भी मरते प्राणी को नहीं बचाते' किन्तु तुम स्वयं अपने इस कथन से विपरीत आचरण करते हो। तुम्हारा कहना और करना एक नहीं है।

महात्मा और दुरात्मा (दुष्ट) पुरुषों का लक्षण बताने के लिए एक कवि ने कहा है:—

मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

अर्थात्—मन, वचन और कर्म के अन्दर जो एक है अर्थात् जैसा कहता है वैसा ही जो वचन द्वारा कथन करता है और जैसा कहता है वैसा ही आचरण करता है वह महात्मा पुरुष है। मन, वचन और कर्म के अन्दर जो भिन्न है अर्थात् जिसके मन में कुछ और है, और वचन द्वारा कहता कुछ और है तथा आचरण कुछ और ही करता है यानी जैसी बात मन में

है वैसी वचन द्वारा नहीं करता किन्तु भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए तथा उन्हें धोखा देने के लिए कुछ और ही कहता है और जैसा अपनी जबान से कहता है वैसा स्वयं आचरण नहीं करता वह दुरात्मा (दुष्ट) है।

ऊपर बताया जा चुका है कि भीषण मतानुयायी साधु कहते तो यह हैं कि 'हम मरते प्राणी को नहीं बचाते', किन्तु वे अपने इस कथन का स्वयं आचरण नहीं करते।

अब पाठक स्वयं इस बात का निर्णय करें कि ऊपर बताये हुए महात्मा और दुरात्मा के लक्षण में से कौन-सा लक्षण उनमें घटित होता है और उन्हें किस कोटि में रखा जाय? महात्मा की कोटि में रक्खा जाय या दुरात्मा की कोटि में? ॥६॥

कहे "जीव बचायाँ पाप छै जी,
किंचित नाहीं धर्म"।
तो सौ माखा बचाविया जी,
थारी श्रद्धा रो निकल्यो भर्म ॥ चतुर० ॥ ७ ॥

भावार्थः—वे कहते हैं कि "जीव बचाने में पाप है, किञ्चिन्मात्र धर्म नहीं" किन्तु उनके जल के पात्र (पातरे) में पड़ी हुई सैकड़ों मक्खियों को आज तक बचा दिया है और आज भी अपने जल के पात्र में पड़ी हुई मक्खियों को बचाते हैं। तब उनकी श्रद्धा की पोल स्वतः खुल जाती है कि 'वे जीव बचाने में पाप कहते हैं किन्तु स्वयं जीव बचाते हैं' अतः इनकी श्रद्धा मिथ्या है ॥७॥

(इम चिड़िया) मूषादिक थारे पातरेजी,
॥ ०९ ॥ पड़िया ने काढ़ो बार ।
मुख से कहो न बचावणा जी,
यो कूड़ो थारो व्यवहार ॥ चतुर० ॥ ८ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार भीषण-मतानुयायी साधु अपने जल के पात्र (पातरे) में पड़ी हुई चिड़िया तथा चूहे आदि को बाहर निकाल देते हैं। वे लोग अपनी जबान से कहते थे कि 'हम मरते जीव को नहीं बचाते' किन्तु वे अपने इस कथन का पालन नहीं करते बल्कि वे इससे विपरीत आचरण करते हैं अतः उनका कथन मिथ्या है ॥८॥

वीर, गोसालो बचावियोजी,
तिण में बतावो पाप ।
(पोते) उंदर आदि बचावलो जी,
थांरी खोटी श्रद्धा साफ ॥ चतुर० ॥ ९ ॥

भावार्थः—'भगवान् महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया था' इस कार्य में वे पाप बतलाते हैं किन्तु वे स्वयं अपने पात्र में पड़ी हुई मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को बाहर निकाल कर बचाते हैं और इसमें धर्म मानते हैं। इसलिए 'जीव बचाने में पाप है' यह उनका कथन मिथ्या है ॥९॥

(जो) पाप कहो भगवान् ने जी,
॥ ९ ॥ (तो) पोते क्यां छोड़ी रीत ?

उन्दर माखा बचावियां (जी)
थारी कूण माने परतीत ॥ चतुर० ॥ १० ॥

भावार्थः—उनसे पूछना चाहिए कि 'भगवान् महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया था, इसमें तुम पाप बतलाते हो फिर तुम स्वयं मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को क्यों बचाते हो ? जब तुम स्वयं जीव बचाते हो और उसमें धर्म मानते हो और लोगों को यह उपदेश देते हो कि "जीव बचाने में पाप है" तो बताओ तुम्हारे इस उपदेश को कौन सत्य मानेगा ? कौन तुम्हारे वचन पर विश्वास करेगा ?

जो व्यक्ति कहता कुछ और है और करता कुछ और है उसके कथन पर जिनके ज्ञानचक्षु नहीं है और जिनके हृदय की आँखें फूट चुकी हैं ऐसे अज्ञानी लोग ही विश्वास कर सकते हैं किन्तु विवेकी एवं पण्डित पुरुष तो उनके वचनों पर कदापि विश्वास नहीं करते ॥१०॥

गोसाला ने बचायवा में,
पाप कहो साक्षात ।
माखाँ मरता देखने जी,
क्यों काढ़ो निज हाथ ॥ चतुर० ॥ ११ ॥
इम पूछ्यां जाब न ऊपजे जी,
जब खोटी काढ़े वाय ।
(कहे) "उपधि हम साधु तणी जी,
जामें जीव कोई मर जाय ॥ चतुर० ॥ १२ ॥

तो हिंसा लागे साधने जी,
ते टालण बचावाँ जीव।
दूजा नाय बचावणा जी,
या मारी श्रद्धा री नींव"॥ चतुर०॥१३॥

भावार्थः—उन भीषणमतानुयायी साधुओं से पूछना चाहिए कि "श्री भगवान् महावीर स्वामी ने गौशालक को बचाया उसमें तुम लोग पाप कहते हो तो फिर तुम स्वयं अपने पात्र (पातरे) में पड़ी हुई मक्खियां, चिड़ियां और चूहे आदि को बाहर निकाल कर क्यों बचाते हो ?

इस प्रश्न का जब उन्हें कोई ठीक जवाब नहीं आता तब वे अनर्गल बातें बनाते हैं और कहते हैं कि जल का पात्र हमारी उपधि (धर्मोपकरण) है। हम साधुओं की उपधि में यदि कोई जीव मर जाय तो उसका पाप हम साधुओं को लगता है इसलिए हम अपनी उपधि में मरते हुए जीव को बचाते हैं किन्तु दूसरे जीवों को नहीं बचाते हैं यह हमारी श्रद्धा है॥११-१३॥

(उत्तर) (थारी) नेसराय री भूमि में जी,
(थारा) पाटा रे निकट में आय।
(तपसी) आवक्र काउसग्ग कियो जी,
पड़ियो मिरगी झोलो खाय ॥ चतुर० ॥ १४ ॥
(थारा) पाटा रे ऊपर ढह पड्यो जी,
गल भागे जीव जाय।
बीजो नहिं तिहाँ मानवीजी,
थें बैठो करो के नाँय ?॥ चतुर० ॥ १५ ॥

भावार्थः—तब उन लोगों से पूछना चाहिए कि तुम लोग जिस धर्म स्थानक में ठहरे हुए हो और वहाँ जिस पाटे (तख्ते) पर तुम बैठे हुए हो उस पाटे के पास आकर किसी श्रावक ने कायोत्सर्ग किया। अचानक उसे मृगी आ जाने से वह धड़ाम से तुम्हारे पाटे पर गिर पड़ा और उसकी गर्दन पाटे और दीवार के बीच में इस प्रकार बुरी तरह फँस गई है जिससे उसके प्राण जाने की नौबत आ गई है। उस वक्त वहाँ कोई दूसरा श्रावक नहीं है। ऐसे समय में तुम उस श्रावक को बैठा करोगे या नहीं ? ॥१४-१५॥

तब तो कहे "म्हें साध छाँ जी,
(श्रावक) बेठो कराँ केम।
म्हारे काम कांई गेही से जी",
बोले पाधरा एम ॥ चतुर० ॥ १६ ॥

(थारा) पाटा पर श्रावक मरे जी,
तिण ने बचावो नाँय।
उन्दर-चिड़िया बचाय लो जी,
पड़े जो पातर माँय ॥ चतुर० ॥ १७ ॥

उन्दर चिड़िया बचाय ले जी,
श्रावक उठावे नाँय।
देखो अंधेरो एहने जी,
ए पड़िया भरम रे माँय ॥ चतुर ॥ १८ ॥

उन्दर चिड़िया बचावताँ जी,
शंके नाहीं लिगार ।
श्रावक ने बेठो कियां में,
पाप री करे पुकार ॥ चतुर० ॥ १६ ॥

इतरी समज पड़े नहीं,
त्यांमें समकित पावे केम ।
छकिया मोह मिथ्यात में जी,
बोले मतवाला जेम ॥ चतुर० ॥ २० ॥

भावार्थः—तब वे लोग उत्तर देते हैं कि हम तो साधु हैं, हमारे श्रावक से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए हम उसे बैठा नहीं करते।

अब विचार करने की बात है कि उनके पात्र में पड़ी हुई मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को तो उससे बाहर निकाल कर बचा लेते हैं और उनके पाटे पर श्रावक मर रहा है उसे वे नहीं बचाते यह कितने ताज्जुब की बात है? यह कितना घोर अन्धकार है? पात्र आदि अपनी उपधि में मरती हुई मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को तो वे निःसंकोच बचा लेते हैं किन्तु उनकी नेश्राय में रहा हुआ पाटा जो कि उनकी उपधि है उस पर मरते हुए श्रावक की वे रक्षा नहीं करते और उसकी रक्षा करने में पाप मानते हैं यह कितनी अज्ञानता है? जल का पात्र भी उनकी उपधि है और पाटा भी उनकी उपधि है फिर जल के पात्र में पड़ी हुई मक्खी आदि को बचाने में धर्म मानना और पाटे पर मरते हुए श्रावक की रक्षा करने में पाप बताना कितनी बड़ी

मूर्खता है ! जो लोग इतना भी नहीं समझते उनमें समकित तो हो ही कैसे सकती है ? जिस प्रकार मदिरा के नशे में बेभान बना हुआ पुरुष बकवाद करता है उसी प्रकार ये लोग भी मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से उन्मत्त प्रलाप करते हैं ॥१९-२०॥

(कहे) "साधाँ ने उन्दर काढ़णो जी,
पातरादिक थी बार ।
पाटा पर श्रावक मरे जी,
(तो) बेठो न करां लिगार" ॥ चतुर० ॥ २१ ॥

(उत्तर) श्रावक बैठो ना करोजी,
ऊँदर काढ़ो जाय ।
आ खोटी श्रद्धा ताहरी जी,
मिले न थारो न्याय ॥ चतुर० ॥ २२ ॥

भावार्थ:—यदि वे यह कहें कि हमारे पात्र में पड़ी हुई मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को तो हमें बाहर निकाल लेना चाहिये; उन्हें निकालना धर्म है किन्तु हमारे पाटे पर गिर कर मरते हुए श्रावक को हमें नहीं उठाना चाहिए क्योंकि श्रावक को उठाने से हमें पाप लगता है' तो यह उनका कथन कितना असंगत है ? उनका न्याय मिलता नहीं क्योंकि जिस प्रकार पात्र उनकी उपधि है उसी प्रकार पाटा भी उनकी उपधि है फिर पात्र में पड़ कर मरने वाले जीवों को तो ये बाहर निकालते हैं और उनकी रक्षा करने में धर्म मानते हैं किन्तु पाटे पर गिर कर मरने वाले श्रावक की रक्षा करने में पाप मानते हैं। यह मान्यता कितनी मूर्खतापूर्ण है ! दोनों कार्य समान हैं फिर एक में धर्म मानना और दूसरे में पाप मानना अज्ञानता है ॥२१-२२॥

परतख आंत मिले नहीं जी,
तावड़ा छाँहड़ी जेम ।
न्यायमार्ग ज्याँ ओलख्यो जी,
ते विकलाँ री माने केम ॥ चतुर० ॥ २३ ॥

भावार्थः—उन लोगों का उपरोक्त कथन धूप और छाया के समान परस्पर विरोधी है । इसलिए जिन्होंने वीतराग देव के न्याय मार्ग को पहचान लिया है वे पण्डित पुरुष इस मूर्खतापूर्ण कथन को कैसे मान सकते हैं ? ॥२३॥

(कहे) "पेट दुखे सौ श्रावकाँ जी,
जुदा होवे जीव काय ।
थें हाथ फेरो पेट ऊपरे जी,
सौ श्रावक बच जाय ॥ चतुर० ॥ २४ ॥
(जो) जीव बचायां धर्म छै तो,
साधु ने फेरणो हात ।
(जो) हाथ साधु फेरे नहीं,
तो मिथ्या थाँरी बात" ॥ चतुर० ॥ २५ ॥

भावार्थः—जीव बचाने में पाप सिद्ध करने के लिए तेरहपन्थियों ने एक कुयुक्ति दी है । वह इस प्रकार है:—

सौ श्रावकों का एक साथ पेट दुखने लग गया और पेट इतने जोर से दुखने लगा कि उनके प्राण छूटने लग गये। इतने में उधर से साधु आ निकले । साधुओं को देखकर वहाँ उपस्थित

दूसरे श्रावकों ने उन साधुओं से कहा कि आप इनके पेट पर हाथ फेर दो जिससे इनका पेट दुखता रह जाय और इनके प्राण बच जांय। अब बतलाओ तुम्हारे (जीव-रक्षा में धर्म मानने वालों के) साधु उन सौ श्रावकों के पेट पर हाथ फेरेंगे या नहीं? तुम लोग जीव-रक्षा में धर्म मानते हो तो साधुओं को उन श्रावकों के पेट पर हाथ फेरना चाहिए। यदि साधु उनके पेट पर हाथ नहीं फेरते हैं तो 'जीव-रक्षा में धर्म है' यह तुम्हारी मान्यता मिथ्या है।"

इस प्रकार कुयुक्ति देकर उन्होंने जीवरक्षा में धर्म होने की मान्यता को मिथ्या सिद्ध करने की चेष्टा की है।।२४-२५।।

(उत्तर) साधु कहे हिवे साँभलो जी,
इण कुयुक्ति रो न्याय।
(जो) हाथ फेरचा निज जीव बचे,
(तो) निज रो फेर बच जाय॥ चतुर०॥ २६॥
हाथ फेरण रो साधु ने जी,
श्रावक कहसी केम।
हठवादी समझे नहीं जी,
श्रावक जाणे (धर्म रो) नेम॥ चतुर०॥ २७॥

भावार्थः—अब उनकी उपरोक्त कुयुक्ति का उत्तर दिया जाता है कि यदि हाथ फेरने से ही उनका पेट दुखता रह जाता है और प्राण बच जाते हैं तो वे स्वयं अपना हाथ पेट पर फेर कर प्राण बचा लेंगे फिर साधु के कल्प और नियम को जानने वाले वे श्रावक अपने पेट पर हाथ फेरने के लिए साधु से क्यों कहेंगे? ॥२६-२७॥

(कहे) "लब्धि आमोसही साधुरेजी,
फरस्याँ दुःख मिट जाय।"
(उत्तर) तो (वह) चरण मुनि रा फरससीजी,
ततखण चोखो थाय ॥ चतुर० ॥ २८ ॥

चरण साधु रा फरसणा जी,
श्रावक रो आचार।
हाथ फेरण रो कहे नहीं जी,
थें झूठ करो उचार ॥ चतुर० ॥ २९ ॥

लब्धि मुनिरी देह में जी,
जो फरसे मुनि काय।
(तो) रोग मिटे साता होवे जी,
मुनि ने दोप न थाय ॥ चतुर० ॥ ३० ॥

(जो) चरण फरस दुखड़ो मिटेजी,
या जिन आज्ञा रे माँय।
तिहाँ हाथ फेरण कारण नहीं जी,
थें झूठी उठाई चाय ॥ चतुर० ॥ ३१ ॥

भावार्थः—यदि वे यह कहें कि उस साधु के शरीर में आमर्पौषधि नामक लब्धि है जिससे उनके शरीर का स्पर्श होने से श्रावकों का पेट दुखता रह सकता है, तो इसका उत्तर यह

है कि जब श्रावकों को यह मालूम है कि इस साधु के शरीर में लब्धि है और इनके शरीर स्पर्श करने से रोग मिट सकता है तो वे उस साधु का चरण-स्पर्श करके तत्क्षण अच्छे हो जाएँगे। साधु के चरण-स्पर्श करना यह श्रावक का आचार (विनय) है। वह साधु को हाथ फेरने के लिए [illegible] जिस साधु के शरीर में लब्धि है [illegible] में रोग [illegible] साता हो जाती है तो इसमें मुनि को कुछ भी दोष नहीं लगता है। यह कार्य जिनाज्ञा में है। इसलिए उन लोगों ने जो पेट पर हाथ फेरने की कुयुक्ति दी है वह मिथ्या है क्योंकि जब लब्धिधारी मुनि के चरणस्पर्श से ही रोग मिट सकता है तब हाथ फेरने का कोई कारण नहीं रहता ॥२८-३१॥

कुयुक्त्याँ बहु केलवी जी,
भोलां दो भरमाय।
ज्ञानी न्याय बताय दे जब,
भरम तुरत मिट जाय ॥ चतुर ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जीव-रक्षा में पाप बताने वाले लोग इस प्रकार की अनेक कुयुक्तियाँ देकर भोले लोगों को भ्रम में डालते हैं किन्तु जब ज्ञानी पुरुष शास्त्रानुकूल सत्य हेतु देकर उन्हें समझाते हैं तब उनका भ्रम दूर हो जाता है किन्तु जो हठाग्रही हैं वे हृदय में सच्ची बात को समझ जाने पर भी अपने हठ को छोड़ते नहीं हैं। ऐसे हठाग्रहियों को सद्रास्ते लाने का कोई उपाय नहीं है क्योंकि सत्य बात को समझा देना सद्गुरुओं का कार्य है, मानना या न मानना यह तो उनकी मर्जी की बात है। कोई मूर्ख मनुष्य गधे की पूंछ पकड़ ले तो उसे समझाना बुद्धिमानों

का कर्त्तव्य है किन्तु यदि वह गधे की पूंछ को नहीं छोड़े और उसे पकड़े ही रहे तो उसका कौन क्या कर सकता है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता परन्तु गधे की पूंछ को पकड़े रहने से उसे गधे की लातों की मार अवश्य खानी पड़ती है। उससे वह बच नहीं सकता। इसी तरह जीव-रक्षा रूप धर्म को भूल कर जिन लोगों ने उसमें पाप बताने रूप अधर्म मार्ग को ग्रहण कर लिया है उन्हें समझाना ज्ञानियों का कर्त्तव्य है किन्तु समझ जाने पर भी हठाग्रहवश यदि वे गधे की पूंछ की तरह उस मार्ग को न छोड़ें तो उनका कौन क्या कर सकता है? अर्थात् कोई कुछ नहीं कर सकता किन्तु इतना अवश्य है कि उस अधर्म एवं हठाग्रह के कारण प्राप्त होने वाली नरक गति में परमाधार्मिकों के मुद्गरों की मार अवश्य खानी पड़ती है। क्या कोई उन्हें उस मार से बचा सकता है? जिस प्रकार गधे की पूंछ पकड़ने वाले को गधे की लातों की मार से कोई नहीं बचा सकता किन्तु उससे बचने का एक ही उपाय है कि वह गधे की पूँछ छोड़ दे उसी प्रकार जीव-रक्षा के पवित्र कार्य में पाप बताने का हठाग्रह करने वालों को भी परमाधार्मिकों के मुद्गरों की मार से कोई नहीं बचा सकता किन्तु उससे बचने का एक ही उपाय है कि वे अपने हठाग्रह को छोड़ दें ॥३२॥

(कहे) "उंदर नाँय छोड़ावणो जी,
मिन्नी मारण धाय।"
एवी कर-कर थापणा जी,
भोला दिया फँसाय ॥ चतुर० ॥ ३३ ॥

भावार्थः—ये लोग कहते हैं कि 'कोई बिल्ली चूहे को मारने के लिए दौड़ती हो तो उससे चूहे को नहीं बचाना चाहिए' इस

प्रकार खोटी प्ररूपणा करके उन लोगों ने भोले जीवों को भ्रम में डाल दिया है।

वे लोग कहते हैं कि "बिल्ली से मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है तथा बिल्ली की हार और चूहे की जीत कराना है" परन्तु उनका कथन अज्ञानतापूर्ण है। बिल्ली से मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना चूहे की अनुकम्पा करना है, अनुकम्पा करना पाप नहीं किन्तु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना भी नहीं है क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्ली को यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो दयालु पुरुष कुत्ते से उस बिल्ली की भी रक्षा करता है। यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यों बचाता?

बिल्ली से चूहे की रक्षा करना बिल्ली की हार और चूहे की जीत कराना नहीं है क्योंकि हार और जीत का व्यवहार युद्ध में होता है परन्तु चूहे के साथ बिल्ली का कोई युद्ध नहीं होता क्योंकि जहाँ दोनों ही विजय की इच्छा से दोनों पर आक्रमण करें वहीं युद्ध है। चूहा तो बिल्ली से डर कर भयभीत होकर आप ही भागा फिरता है, वह युद्ध करने के लिए बिल्ली के सम्मुख नहीं जाता इसलिए यह युद्ध नहीं है किन्तु बलवान् हिंसक प्राणी के द्वारा वहाँ कायर एवं दुर्बल प्राणी की हिंसा हो रही है उसे युद्ध कायम करके चूहे की प्राण रक्षा करने से चूहे की जीत और और बिल्ली की हार बतलाना अज्ञानियों का कार्य समझना चाहिए।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि "चूहे को मारने के लिए दौड़ती हुई बिल्ली को लकड़ी आदि से छुड़कारना उसे भय देना

है और भय देना तो पाप है" तो यह कहना भी अज्ञानतापूर्ण है क्योंकि वास्तव में किसी जीव को सताने के अभिप्राय से भय देना पाप है किन्तु यहाँ उस दयालु पुरुष का अभिप्राय उस नासमझ प्राणी को सताने का नहीं किन्तु उसे पाप करने से हटाने का है इसलिए यह पाप नहीं कहा जा सकता यह तो उस प्राणी (बिल्ली) को पाप कार्य से बचा कर उसका कल्याण करना है।

उन लोगों को रक्षा से तो द्वेष है इसलिए रक्षा में वे पाप बताते हैं किन्तु हिंसक को हिंसा के पाप से बचाने में तो वे भी धर्म मानते हैं। यहाँ पर बिल्ली चूहे को मार कर हिंसा का पाप कर रही है। अब उन लोगों से पूछना चाहिए कि बिल्ली को हिंसा के पाप से बचाने के लिए आप क्या करेंगे? क्या आप बिल्ली को उपदेश देंगे कि 'बिल्ली बाई ! चूहे को मत मारो। चूहे को मारने से तुम्हें पाप लगेगा ?' क्या बिल्ली आपके इस उपदेश को मानेगी ? उपदेश और उपदेश की शैली श्रोता की अपेक्षा एवं द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा भिन्न भिन्न होती है। सभी के लिए एक सरीखा उपदेश नहीं हो सकता। बिल्ली को छुछकार देना यही उसके लिए उपदेश है। इसी से वह पापकार्य से बच सकती है। इसलिए चूहे को मारने के लिए दौड़ती हुई बिल्ली को छुछकार देना उसे भय देना नहीं है किन्तु उसको हिंसा के पाप से बचाना है ॥२३॥

आवश्यक-सूत्र देख लो जी,
ध्यान आगारां रे माँय।
उन्दरादिक ने मारवा जी,
बिल्ली झपटी आय ॥ चतुर० ॥ २४ ॥

उसे छुछकार कर चूहे की रक्षा कर दे। इस प्रकार जो करते हुए मुनि का कायोत्सर्ग भंग नहीं होता है।

उनके माने हुए सत्ताईस पाटों का कथन निर्युक्ति में है वे उन सत्ताईस पाटों को मानते हैं। इससे यह तो स्पष्ट है कि निर्युक्ति को अप्रामाणिक तो नहीं कह सकते। उसी निर्युक्ति कायोत्सर्ग में खड़े हुए मुनि द्वारा जीव-रक्षा का कथन भी है, अतः उसे अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं। उन्हें प्रामाणिक मानना ही पड़ेगा ॥३८-३९॥

अठारे से संवत पूरवे जी,
जीव बचावण माँय।
कोई आचारज नहीं कह्यो जी,
पाप करम बन्धाय ॥ चतुर० ॥ ४० ॥
अपुठो इम भाख्यो,
मिन्नी करे चुवा री घात।
ध्यान खोल बचावताँ जी,
दोष नहीं तिल मात ॥ चतुर० ॥ ४१ ॥

१ तेरह पंथ के प्रवर्त्तक भीषणजी का जन्म मारवाड़ देश में कण्टालिया नामक ग्राम में संवत् १७८३ में हुआ था। संवत् १८०८ में बाईस सम्प्रदाय के पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज के पास इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। संवत् १८१५ में पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज ने भीषणजी की श्रद्धा को शास्त्रविपरीत देखकर इन्हें अपने गच्छ से अलग कर दिया। पश्चात् भीषणजी,

वक्तोजी, रूपचन्दजी, भारमलजी और गिरधरजी आदि तेरह जनों ने मिल कर एक नवीन पन्थ चलाया। तेरह जनों ने इसे चलाया था इसलिए इसका नाम 'तेरह-पंथ' पड़ा।

गच्छ से बाहर निकाले हुए भीषणजी में ही सर्व प्रथम यह कुबुद्धि उत्पन्न हुई कि उन्होंने जीव-रक्षा में पाप का कथन किया। इससे पहले किसी भी आचार्य ने जीव-रक्षा में पाप होने का कथन नहीं किया। प्रत्युत जीव-रक्षा को परम धर्म का कार्य बतलाया है और यहाँ तक कहा है कि "कायोत्सर्ग में खड़े हुए मुनि के सामने यदि कोई बिल्ली चूहे की घात करे तो मुनि अपने कायोत्सर्ग को खोल कर उस बिल्ली को छुछकार कर चूहे की रक्षा कर दे। ऐसा करने पर भी मुनि का कायोत्सर्ग भंग नहीं होता और मुनि को कोई दोष नहीं लगता।" पूर्वाचार्यों ने तो जीव-रक्षा का इतना माहात्म्य बतलाया है। परन्तु अभी कल-परसों के जन्मे हुए भीषणजी के दिमाग में न जाने कौन से पूर्व पाप कर्मों के उदय से यह कुबुद्धि उत्पन्न हुई जिससे वे जीव-रक्षा में पाप का कथन करने लगे॥४०-४१॥

(कहे) "मूसादिक ने बचायलो जी,
मिनकी ने छुछकाय।
श्रावक मरे मुख आगले जी,
तिणने बचावो के नाय" ॥ चतुर०॥ ४२॥

भावार्थः—यदि वे इस पर यह प्रश्न करें कि कायोत्सर्ग में खड़ा हुआ मुनि चूहे की रक्षा कर दे ऐसा तुम कहते हो तो मुनि के सामने कोई श्रावक पाटे पर गिर कर मर रहा हो तो उस समय मुनि उस श्रावक की रक्षा करते हैं या नहीं? ॥४२॥

(उत्तर) मरतो जाण बचावियाँ जी,
दोष मुनि ने न कोय ।
निशीथ अर्थ में देख लो जी,
भरम हिया रो खोय ॥ चतुर० ॥ ४३ ॥

भावार्थः—कोई श्रावक एवं कोई भी जीव मुनि के सामने मर रहा हो तो उसे मरता जान कर मुनि यथाविधि उसकी रक्षा कर सकता है इसमें मुनि को किसी प्रकार दोष नहीं लगता। यह बात निशीथ सूत्र में स्पष्ट कही गई है। अतः जीव-रक्षा में पाप होने के भ्रम को अपने हृदय से निकाल देना चाहिए ॥४३॥

श्रावक बचायाँ धर्म छै जी,
साधु भी लेवे बचाय ।
अवसर ठम-कुठाम नो जी,
कल्प रो ध्यान लगाय ॥ चतुर० ॥ ४४ ॥

भावार्थः—श्रावक अपनी शक्ति अनुसार जीव-रक्षा करता है और साधु भी अपने कल्प एवं द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार जीव-रक्षा करता है ॥४४॥

धर्म देशना धर्म में जी,
पिण देवे कल्पते ठाम ।
जीव बचावणो धर्म में पिण,
करे कल्प थी काम ॥ चतुर० ॥ ४५ ॥

भावार्थः—यदि कोई यह कहे कि जब जीव-रक्षा करना धर्म का कार्य है तो मुनि अन्य सब कार्यों को छोड़ कर सब समय में यही कार्य क्यों नहीं करते ? तो उससे कहना चाहिए कि धर्मोपदेश देना तो तुम भी धर्म का कार्य मानते हो फिर तुम्हारे साधु अन्य सब कार्यों को छोड़ कर सब समय में धर्मोपदेश ही क्यों नहीं देते ? तो उन्हें लाचार होकर यह उत्तर देना ही पड़ेगा कि यद्यपि धर्मोपदेश देना धर्म का कार्य है तथापि यह अनुकूल समय पर योग्य स्थान में ही दिया जाता है किन्तु सदा काल और सब समय पर धर्मोपदेश नहीं दिया जा सकता। उसी तरह जीव-रक्षा के विषय में भी समझना चाहिए कि यद्यपि जीव-रक्षा का कार्य धर्म का कार्य है तथापि साधु अपने कल्पानुसार अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल भाव से ही जीव-रक्षा का कार्य करते हैं ॥४५॥

चिड़ियो मुओ थारा स्थान में जी,
थारे अटक्यो सज्झाय रो काम।
परठो के परठो नहीं जी,
तब उत्तर देवे ताम ॥ चतुर० ॥ ४६ ॥

"चिड़ियाँ ने तो परठ दाँ जी,
जाणी धर्म रो साय।"
(तो) कुत्तो मरयो थारा थान में जी,
तेने परठो के नाय ? ॥ चतुर० ॥ ४७ ॥

"साधु बाजाँ म्हें जैन रा जी,
कुत्ता घीसाँ केम ?"

(तो) कुत्ता ने चिड़िया तणो थारे,
रयो न सरखो नेम ॥ चतुर० ॥ ४८ ॥

(तिम) जीव बचावा में जाणज्यो जी,
ज्ञान से न्याय विचार।
अवसर अण-अवसर तणो जी,
साधु तणो आचार ॥ चतुर० ॥ ४९ ॥

भावार्थ:—साधु अपने कल्पानुसार समय असमय का विचार करके ही सारे कार्य करते हैं किन्तु यदि कोई हठाग्रही इस बात को न माने तो उनसे पूछना चाहिए कि 'जिस मकान में तुम लोग (तेरह पन्थी साधु) उतरे हुए हो यदि कोई चिड़िया का बच्चा वहाँ मर जाय और उसका कलेवर (मृत शरीर) वहाँ पड़ा हुआ होने से अस्वाध्याय हो जाय तो तुम उसे बाहर परठ (डाल) दोगे या नहीं ?' तब तो वे कहेंगे कि 'हम उस चिड़िया के बच्चे को बाहर परठ देंगे।' अब मान लो कि यदि वहाँ कुत्ता मर गया और उससे अस्वाध्याय हो गया तो तुम उसे बाहर परठ दोगे या नहीं ?' तब तो वे कहेंगे कि हम जैन के साधु कहलाते हैं, हम कुत्ते कैसे घींसेंगे ? अर्थात् हम कुत्ते को घींस कर बाहर नहीं डालेंगे।" तो उन लोगों से कहना चाहिए कि चिड़िया का बच्चा भी पंचेन्द्रिय प्राणी है और कुत्ता भी पंचेन्द्रिय प्राणी है किन्तु उन दोनों का तुम्हारे लिए एक सरीखा नियम नहीं रहा। इसी प्रकार सरल बुद्धि से जीव-रक्षा के विषय में भी आप लोगों को समझना चाहिए कि 'जीव-रक्षा' धर्म का कार्य है किन्तु साधु लोग समय असमय का विचार कर अपने कल्पानुसार ही यह कार्य कर सकते हैं ॥४८-४९॥

(कहे) "गाड़ी हेटे डावड़ो जी,
तुमे साधू लेवो उठाय।
श्रावक मरतो जाण ने जी,
तिण ने उठावो के नाय" ॥ चतुर० ॥ ५० ॥

भावार्थः—इस पर यदि तेरह पन्थी लोग यह पूछें कि 'कोई भार से भरी हुई गाड़ी आ रही है। रास्ते में कोई छोटा बालक है वह उसके नीचे दब कर मर जाने वाला है तो तुम लोग (जीव-रक्षा में धर्म मानने वाले साधु) उस बालक को उठा लेते हो किन्तु कोई श्रावक तुम्हारे सामने मर रहा हो तो उसको उठाओगे या नहीं ? ॥५०॥

(उत्तर) म्हें तो जीव बचायवा में,
धर्म रो श्रद्धाँ काम।
श्रावक ने लड़का तणो जी,
म्हारे न भेद रो ठाम ॥ चतुर० ॥ ५१ ॥

भावार्थः—उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि 'हम लोग जीव बचाने में धर्म मानते हैं। गाड़ी नीचे दब कर मरने वाले लड़के और श्रावक में हम किसी तरह का फर्क नहीं मानते। यथावसर साधु बालक और श्रावक दोनों की रक्षा कर सकता है ॥५१॥

(कहे) "लट, गजायाँ, कातरा जी,
ढाँढा थी चींथी जाय।
त्याँ ने बचावा तणो मुनि,
क्यों नहिं करे उपाय ॥ चतुर० ॥ ५२ ॥

जो लड़का ने बचावसी जो,
सो लटादि लेसी बचाय।
(जो) लट गजाई रत्ता ना करे जी,
तो लड़को बचावे कॉय" ॥ चतुर० ॥ ५३ ॥

भावार्थ:—तेरह पन्थी लोग कहते हैं कि 'जो लोग जीव-रक्षा में धर्म मानते हैं और गाड़ी के नीचे दब कर मर जाने वाले बच्चे को उठा कर बचा लेने में धर्म मानते हैं वे लोग लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े आदि जीव जो कि चतुर्मास में बहुत पैदा होते हैं और पशुओं के पैरों के नीचे दब कर मारे जाते हैं उन्हें वे क्यों नहीं बचाते ? जो लोग लड़के को बचाते हैं उन्हें उन लट, गजाई आदि जीवों को भी बचाना चाहिए। यदि वे लट, गजाई आदि जीवों को नहीं बचाते हैं तो फिर वे लड़के को क्यों बचाते हैं ? ॥५२-५३॥

(उत्तर) दोनों बचायाँ धर्म छै जी,
थें झूठा रच्या तोफान।
मिथ्या पंथ चलायवा जी,
भूल गया थें भान ॥ चतुर० ॥ ५४ ॥

भावार्थ:—उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि बच्चे की रक्षा करने में और लटादि जीवों की रक्षा करने में अर्थात् दोनों की रक्षा करने में धर्म है।

एक नवीन मिथ्या पन्थ चलाने के आवेश में आकर भीषणजी ने अन्ट-शन्ट जैसा मन में आया वैसा लिख मारा

उन्हें आगे पीछे का और भले बुरे का कुछ भी ध्यान नहीं रहा, वे भान भूल गये इसी लिए उन्होंने ऐसी ऊटपटाङ्ग अनर्गल बातें लिख मारीं ॥५४॥

लड़का, लट, गजाय, नो जी,
सरखो नहीं छै न्याय।
लड़को सन्नी पंचेन्द्री ते,
लट सम कह्यो किम थाय? ॥ चतुर० ॥ ५५ ॥

शक्य होवे तो बचाय ले जी,
कीड़ा मकोड़ा रा प्राण।
अशक्य बचाई ना सके,
ज्याँरी मूर्ख करे कोई ताण ॥ चतुर० ॥ ५६ ॥

भावार्थः—दूसरी बात यह है कि भीषणजी ने लड़के को और लट, गजाई को दोनों को एक सरीखा बताया है यह भी उनकी भारी अज्ञानता है क्योंकि लड़का संज्ञी पंचेन्द्रिय है। वह लट, गजाई के बराबर कैसे कहा जा सकता है? लट, गजाई की अपेक्षा मनुष्य की पुण्यवानी अनन्त गुणा अधिक है। लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि मनुष्य की घात करने वाला बड़ा अपराधी माना जाता है और सरकार उसको फांसी तक की सजा दे देती है किन्तु लट, गजाई को मार देने वाले व्यक्ति को फांसी की सजा आज तक नहीं सुनी गई। सारा संसार लड़के और लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े में महान् अन्तर समझता है केवल एक भीषण पन्थ ही ऐसा है जो लड़के और लट, कीड़े-मकोड़े को एक सरीखा बताता है। धन्य है भीषणजी

की इस भीषण बुद्धिमत्ता को !!! परमात्मा न करे किन्तु एक क्षण के लिए कल्पना कीजिये कि यदि इस भीषण पन्थ की मान्यता (लड़के और लट, कीड़े-मकोड़े को तथा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान मानना) को राज्य-व्यवस्था में स्थान मिल जाय तो सारे संसार की क्या दशा हो ? संसार के समस्त मनुष्य तत्क्षण फांसी के तख्ते पर लटका दिये जायं क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य नहीं मिलेगा जो कीड़े-मकोड़े की हिंसा से तथा एकेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा से बचा हुआ हो। उस समय स्वयं इस पन्थ के मानने वालों की क्या दशा होगी ? क्या वे फांसी के तख्ते से बच सकेंगे ? तब उनकी आँखें खुलेंगी और अपने पन्थ की भीषणता का पता चलेगा। अतः लड़के को लट, गजाई और कीड़े-मकोड़े के समान बताना महामूर्खता है।

✓जो यह प्रश्न किया गया है कि मुनि पशुओं के पैरों से मारे जाने वाले समस्त लट, गजाई और कीड़े-मकोड़े को क्यों नहीं बचाते ? इसका उत्तर यह है कि उन लट, गजाई कीड़े-मकोड़े आदि समस्त प्राणियों की रक्षा करने में हम धर्म मानते हैं किन्तु जो कार्य शक्य हो वही किया जा सकता है, अशक्य नहीं। जिस कार्य को करना अपनी शक्ति से बाहर हो ऐसे अशक्य कार्य को खींच करके रक्षा में पाप बताना मूर्खता है ॥५५-५६॥

द्रव्य-क्षेत्र ना अवसरे जी,
उपदेश दे मुनिराय।
विन अवसर तो ना दिये जी,
(वियो) उपदेश अधर्म में नाँय ॥ चतुर० ॥ ५७ ॥

अवसर होवे साध री जी,
जीवाँ ने लेवे बचाय ।
बिन अवसर रक्षा ना हुवे तो,
रक्षा में पाप न थाय ॥ चतुर० ॥ ५८ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि 'तुम लोग उपदेश देना धर्म में मानते हो और उपदेश देकर हिंसक का पाप छुड़ाना भी धर्म में मानते हो' फिर तुम (भीषण मतानुयायी साधु) सारे दिन उपदेश क्यों नहीं देते और सब जगह के सब हिंसक प्राणियों को उपदेश देकर उनका पाप क्यों नहीं छुड़ाते ? तब उन्हें लाचार होकर यही कहना पड़ेगा कि उपदेश देना एवं उपदेश द्वारा हिंसक की हिंसा छुड़ाना हम धर्म में मानते हैं किन्तु सारे दिन उपदेश देना और सब जगह के सब हिंसक प्राणियों को उपदेश देकर उन्हें हिंसा के पाप से छुड़ाना हमारे लिए शक्य नहीं है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता एवं अवसर होने पर ही उपदेश दिया जा सकता है और यथाशक्ति हिंसक प्राणियों की हिंसा छुड़ाई जा सकती है।

जिस प्रकार वे उपदेश के विषय में अवसर और अनवसर तथा शक्यता और अशक्यता मानते हैं उसी प्रकार सरल बुद्धि से यही बात उन्हें रक्षा के विषय में भी समझनी चाहिए कि अवसर हो और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता हो तो मुनि जीवों की रक्षा कर लेते हैं किन्तु जब अवसर न हो और जो शक्य न हो वहाँ जीव-रक्षा न की जा सके तो इससे जीव-रक्षा का कार्य पाप में नहीं ठहराया जा सकता ॥५७-५८॥

उपदेश, रक्षा, धर्म में जी,
दोयाँ में शुद्ध परिणाम।
पिण अवसर होवे जद सधे जी,
श्रद्धे आछो काम ॥ चतुर० ॥ ५६ ॥
उपदेश बतावे धर्म में जी,
जीव बचायाँ पाप।
खोटी श्रद्धा तेहनी जी,
ज्ञानी जाणे साफ ॥ चतुर० ॥ ६० ॥

भावार्थः—उपदेश देना और रक्षा करना दोनों धर्म के कार्य हैं। करने वालों के परिणाम शुद्ध होते हैं किन्तु ये दोनों कार्य अवसर हो तब ही किये जा सकते हैं, बिना अवसर नहीं किये जाते किन्तु उस अवस्था में भी इनको धर्म का ही कार्य माना जाता है, किन्तु बिना अवसर न किये जा सकने के कारण उपदेश और रक्षा इन दोनों कार्यों को पाप में नहीं ठहराया जा सकता। ऐसा होते हुए भी जो पुरुष उपदेश को तो धर्म में माने और रक्षा में पाप बतावे ज्ञानी पुरुष उसकी श्रद्धा को खोटी श्रद्धा कहते हैं क्योंकि उपदेश और रक्षा दोनों समान कार्य हैं फिर उपदेश को तो धर्म का कार्य कहना और रक्षा को पाप का कार्य बताना प्रत्यक्ष खोटी श्रद्धा है ॥५६–६०॥

लड़का, लट सरिखा कहे जी,
(ते) मूरख, मूढ़ गँवार।

जैनी नाम धरायने जी,
भ्रष्ट किया नरनार ॥ चतुर० ॥ ६१ ॥
कीड़ा, मकोड़ा, मनुज नी जी,
सरखी बतावे वात ।
भेष लई भारी हुआ जी,
धर्म री कर रया घात ॥ चतुर० ॥ ६२ ॥

भावार्थः—लड़के की रक्षा और लटादि की रक्षा के विषय में दूसरी बात यह है कि लड़के को जो लट के समान बताता है वह महामूर्ख है। ऐसा पुरुष जैनी नाम धरा कर लोगों को सत्य पथ से भ्रष्ट करता है और जो साधु का भेष पहनकर मनुष्य की रक्षा को और कीड़े-मकोड़े की रक्षा को एक समान बताता है तो समझना चाहिए कि वह साधु के भेष को लजाता है। ऐसा पुरुष साधु का भेष पहन कर कर्मों से विशेष भारी हुआ है। वह साधु के भेष की ओट में धर्म की घात करता है ॥६१-६२॥

चउनाणी शुध संयमी जी,
वीर जगत गुरु-राय ।
गोसाला ने बचावियो जी,
अनुकम्पा दिल लाय ॥ चतुर० ॥ ६३ ॥
(जो) जीव बचावणो पाप में जी,
गोसालो बचायो केम ।
उत्तर न आयो एहनो जी,
तब झूठ बोल्यां तज नेम ॥ चतुर० ॥ ६४ ॥

(कहे) "गोसाला ने बचायियो जी,
'चूक' गया महावीर।
पाप लागो श्री वीर ने,
म्हारी श्रद्धा बड़ी गँभीर"॥ चतुर०॥ ६५॥
(वलि कहे) "साधाँ ने लब्धि ने फोड़णी जी,
सूत्र भगोती रे माँय।
लब्धी फोड़ बचावियो जी,
तेथी पाप कर्म बन्धाय"॥ चतुर०॥ ६६॥

भावार्थः—चार ज्ञान के धारक, शुद्ध संयम के पालने वाले, जगत् गुरु, जगन्नाथ श्री तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने अनुकम्पा करके गोशालक को बचाया था। यदि जीव बचाना पाप होता तो भगवान् ने गोशालक को क्यों बचाया? जब भीषणजी को इस प्रश्न का जवाब नहीं आया तब वे अपने व्रत को तोड़ कर झूठ बोल गये कि:—भगवान् महावीर ने गोशालक को बचाया था अतः भगवान् 'चूक' गये अर्थात् भगवान् ने गलती की। इस कार्य से उन्हें पाप लगा था, क्योंकि भगवती सूत्र में कहा है कि साधु को लब्धि नहीं फोड़नी चाहिए। वीर भगवान् ने लब्धि को फोड़ कर गोशालक को बचाया था इसलिए उन्हें पाप कर्म का बन्ध हुआ।

अब विचारने की बात है कि गोशालक की रक्षा करते समय भगवान् को मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यव इस प्रकार चार ज्ञान थे किन्तु विचारे भीषणजी को मति, श्रुति के अतिरिक्त ऐसा कौनसा ज्ञान था जिससे उन्होंने यह कहने का

दुःसाहस किया कि भगवान् 'चूका' गये। एक अ आ सीखने वाला बालक एक विद्वान् प्रोफेसर की अक्षर ज्ञान सम्बन्धी गल्ती बतावे तो क्या वह बालक मूर्ख नहीं कहलायेगा ? क्या यह उसकी धृष्टता नहीं कहलायगी ? अवश्य कहलायगी और यही कहा जायगा कि बालक स्वयं गल्ती कर रहा है, इसी प्रकार भगवान् को 'चूका' बता कर क्या भीषणजी उस बालक सरीखी मूर्खता और धृष्टता नहीं कर रहे हैं ? क्या इससे यह साबित नहीं होता कि ऐसा मिथ्या कथन करके भीषणजी स्वयं 'चूक' गये हैं ?

जिस भगवान् के नाम पर माथा मुँडाया है और जिसके नाम से रोटी का टुकड़ा मांग कर लाते हैं उन्हीं भगवान् को 'चूका' कहना क्या धृष्टता और निर्लज्जता की पराकाष्ठा नहीं है ? जो पुत्र अपने पिता को नालायक (चूका) समझे क्या वह सुपुत्र कहला सकता है ? कदापि नहीं। वह स्वयं नालायक (चूका) है और कुपुत्र है। जो पुत्र अपने पिता को 'चूका' कहे और फिर यह तुर्रा रखे कि 'मैं कितना चतुर हूँ जो अपने पिता को भी 'चूका' कहता हूँ' तो ऐसा कहने वाला क्या कुपुत्र एवं मूर्खशिरोमणि के पद को प्राप्त नहीं करता ? इसी प्रकार जो भगवान् को 'चूका' बता कर फिर ऊपर यह तुर्रा रखे कि "हमारी श्रद्धा बड़ी गम्भीर है" तो क्या ऐसा कहने वाला कुशिष्य और मूर्खशिरोमणि के पद को प्राप्त नहीं करता ? ॥६३-६६॥

(उत्तर) उपदेशे जीव बचाय ले जी,
लब्धि फोड़े नाय।
ते पिण पाप एकंत में जी,
थांरी श्रद्धा रे मांय ॥ चतुर० ॥ ६७ ॥

भावार्थः—जब उन लोगों से यह पूछा जाता है कि 'तुम भगवान् को चूका कहते हो सो इसमें शास्त्र का क्या प्रमाण है! शास्त्र में कहीं ऐसा कहा हो कि भगवान् 'चूक' गये, तो वह पाठ बताओ। तब लाचार होकर उन्हें यह कहना पड़ता है कि शास्त्र में तो ऐसा कहीं नहीं कहा है कि भगवान् 'चूक' गये और न ऐसा कोई पाठ ही आया है किन्तु हम युक्ति लगा कर कहते हैं, कि भगवान् 'चूक' गये। हमारी युक्ति यह है कि 'भगवती सूत्र में कहा है कि साधु को लब्धि नहीं फोड़नी चाहिए। भगवान् ने शीतल लेश्या लब्धि फोड़ कर गोशालक को बचाया था इसलिए भगवान् 'चूक' गये। भगवान् ने पाप किया।'

इनका यह कहना एकान्त मिथ्या है। भगवान् ने लब्धि नहीं फोड़ी थी। इसलिए उन्हें किसी तरह का पाप नहीं लगा था।

इन लोगों से पूछना चाहिए कि 'लब्धि न फोड़ कर उपदेश द्वारा यदि कोई किसी प्राणी की रक्षा करे तो उसमें तुम धर्म मानते हो या पाप? उपदेश द्वारा जीव बचाने में भी इनके मत में पाप माना गया है। इसलिए लब्धि-फोड़ने का नाम लेना तो इनका बहाना मात्र है। इन लोगों को तो जीव-रक्षा से ही द्वेष है। उपदेश द्वारा अथवा किसी भी प्रकार जीव-रक्षा की जाय ये लोग तो 'जीव-रक्षा' मात्र में पाप मानते हैं ॥६७॥

झूठा चोज लगाविया जी,
लब्धि केरे नाम।
अनुकंपा उठायवा जी,
यो मिथ्या-मत रो काम ॥ चतुर० ॥ ६८ ॥

भावार्थः—वीर भगवान् ने गोशालक को बचा कर समस्त संसार को अनुकम्पा की शिक्षा दी है किन्तु अनुकम्पा के द्वेषी मिथ्यात्वी लोगों ने अनुकम्पा को उठाने के लिए झूठ-मूठ ही लब्धि फोड़ने का नाम लेकर कुयुक्ति लगाई है ॥६८॥

समुचय लब्धि रा नाम ले जी,
भोलाँ ने दे भरमाय।
पिण साँची कोई मत जाणज्यो जी,
भेद सुणो चित लगाय ॥ चतुर० ॥ ६९ ॥

शीतल लेश्या लब्धि नो जी,
दोष न सूतर माँय।
सुखदाई दुःख ना होवे जी,
(एथी) जीव-हिंसा नहीं थाय ॥ चतुर० ॥ ७० ॥

अंग उपाङ्ग अरु ग्रन्थ में इण,
लब्धि रो दोष न कोय।
तो पिण पाप बतावियो जी,
यो कपट कुगुरु रो जोय ॥ चतुर० ॥ ७१ ॥

दोष होवे जे लब्धि थी ते,
प्रकट बताया नाम।
इणरो नाम न चालियो थें,
तजो कपट रो काम ॥ चतुर० ॥ ७२ ॥

भावार्थः—"भगवान् महावीर स्वामी ने लब्धि फोड़ कर गोशालक को बचाया था इसलिए उन्हें पाप लगा" यहाँ समुच्चय लब्धि का नाम लेकर वे लोग भोले प्राणियों को भ्रम में डालते हैं, उनका यह कथन कपटपूर्ण है क्योंकि भगवान् ने शीतल लेश्या द्वारा गोशालक की रक्षा की थी। शीतल लेश्या सब जीवों के लिए सुखदाई होती है क्योंकि उससे किसी जीव की हिंसा नहीं होती। अङ्ग उपाङ्ग सभी शास्त्रों में और ग्रन्थों में शीतल लेश्या का कोई दोष नहीं बतलाया है। जिन लब्धियों का प्रयोग करने से पाप लगता है उनके नाम शास्त्र में स्पष्ट गिनाये गये हैं किन्तु वहाँ शीतल लेश्या का नाम नहीं बतलाया गया है फिर भी कुगुरुओं ने शीतल लेश्या से पाप बतलाया है यह उनका कपटपूर्ण मिथ्या कथन है।

प्रवचनसारोद्धार में शीतल लेश्या का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है:—

"अगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति तेजोलेश्या-प्रशमनप्रत्यलशीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यं"

(प्रवचनसारोद्धार)

अर्थात्:—अतिशय दयालुता के कारण दया करने योग्य पुरुष के प्रति तेजो लेश्या को शान्त करने में समर्थ शीतल तेजो विशेष के छोड़ने की शक्ति का नाम 'शीतल लेश्या' है।

इस लक्षण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ उष्ण तेजो लेश्या जलाने का काम करती है वहाँ शीतल लेश्या शान्ति का कार्य करती है। उष्ण तेजो लेश्या जीव-हिंसा के लिए काम आती है। जैसे धूप और छाया परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध गुण

वाले हैं उसी तरह ये दोनों लेश्याएं परस्पर विरुद्ध गुणवाली हैं। अतः उष्ण तेजो लेश्या के छोड़ने से जीवों की विराधना होती है परन्तु शीतल तेजो लेश्या से किसी जीव की विराधना नहीं होती बल्कि उससे जीवों की रक्षा होती है। इसलिए शीतल लेश्या में पाप बताना मिथ्या है ॥६६-७२॥

(कहे) "उष्ण ने शीतल एक छै जी,
तेजू लब्धि रा भेद"।
मद छकिया इम ऊचरे जी,
सुणताँ उपजे खेद ॥ चतुर० ॥ ७३ ॥

भावार्थः—मिथ्यात्व मोहनीय के मद में चूर बने हुए वे लोग कहते हैं कि उष्ण लेश्या और शीतल लेश्या दोनों तेजो-लब्धि के भेद होने के कारण एक हैं ॥७३॥

(उत्तर) शीतल थी शान्ति होवे जी,
जीव न विणसे कोय।
उष्ण थी जीव मरे घणा जी,
एक किसी विध होय ॥ चतुर० ॥ ७४ ॥

भावार्थः—शीतल लेश्या और तेजो लेश्या दोनों तेजो-लब्धि के भेद हैं किन्तु शीतल लेश्या से शान्ति होती है, और उष्ण लेश्या से बहुत जीवों का विनाश होता है। इसलिए शीतल लेश्या और उष्ण लेश्या दोनों एक नहीं हो सकतीं। शीतल का काम शान्ति करना और उष्ण का काम विनाश करना है। धूप और छाया की तरह दोनों परस्पर विरुद्ध हैं इसलिए शीतल लेश्या और उष्ण लेश्या को एक कहना अज्ञानता है ॥७४॥

(कहे) "अग्नि पाणी मेला होवे जी,
जीव घणा मर जाय।
तेजू शीतल लब्धि मिल्याँ जी,
घात जीवाँ री थाय" ॥ चतुर० ॥ ७५ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि जैसे पानी के द्वारा बुझाने से हिंसादि रूप आरम्भ होता है उसी तरह शीतल के द्वारा तेजो लेश्या के बुझाने में भी आरम्भ दोष होता है। लिए शीतल लेश्या के द्वारा भगवान् ने जो तेजो लेश्या को करके गोशालक की प्राण-रक्षा की थी इसमें उनको लगा था ॥७५॥

(उत्तर) तेजू लेश्या पुद्गल भणी जी,
अचित कह्या जिनराय।
सूत्र भगोती में देख लो थें,
खोटा लगावो न्याय ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

भावार्थः—शीतल लेश्या के द्वारा तेजो लेश्या के करने में आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जानने का फल है। भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठ में तेजो लेश्या पुद्गलों को अचित्त कहा है। वह पाठ यह है:—

कयरेणं भंते ! अचित्ता वि पोग्गला उ भासंति जाव पभासंति ?

कालोदाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसड्ढा-
समाणी दूरं गता दूरं निवत्तइ, देसं गता देसं निवत्तइ,
जहि जहि च णं सा निवत्तइ तहि तहि च णं ते अचित्ता
उ वि पोग्गला उ भासंति जाव पभासंति ।

(भगवती शतक ७ उद्देशा १०)

अर्थः—(प्रश्न) कालोदायी अनगार भगवान् से प्रश्न
रते हैं कि हे भगवन् ! कौन से अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ?

(उत्तर) हे कालोदायिन् ! क्रोधित हुए अनगार से फेंकी
ई तेजो लेश्या, दूर तक फेंकी हुई, दूर और निकट में फेंकी हुई
नकट में जाकर पड़ती है । जहाँ जहाँ वह तेजो लेश्या पड़ती है
हाँ वहाँ उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ।"

यहाँ भगवती सूत्र के मूलपाठ में तेजो लेश्या के पुद्गलों
ो अचित्त कहा है । इसलिए अग्नि के सचित्त पुद्गलों का दृष्टान्त
इकर शीतल लेश्या के द्वारा इन अचित्त पुद्गलों को शान्त करने
में आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जानने का फल समझना
चाहिए ॥७६॥

हिंसादि कुकर्म थी जी,
खोटी लेश्या थाय ।
जीव रक्षा रा भाव में जी,
भली लेश्या सुखदाय ॥ चतुर० ॥ ७७ ॥
माठी लेश्या में ना कह्यो जी,
जीव रक्षा रो काम ।

(कहे) "अग्नि पाणी भेला होवे जी,
जीव घणा मर जाय।
तेजू शीतल लब्धि मिल्याँ जी,
घात जीवाँ री थाय" ॥ चतुर० ॥ ७५ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि जैसे पानी के द्वारा अ
बुझाने से हिंसादि रूप आरम्भ होता है उसी तरह शीतल
के द्वारा तेजो लेश्या के बुझाने में भी आरम्भ दोष होता है।
लिए शीतल लेश्या के द्वारा भगवान् ने जो तेजो लेश्या को
करके गोशालक की प्राण-रक्षा की थी इसमें उनको आरम्भ
लगा था ॥७५॥

(उत्तर) तेजू लेश्या पुद्गल भणी जी,
अचित कह्या जिनराय।
सूत्र भगोती में देख लो थें,
खोटा लगावो न्याय ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

भावार्थः—शीतल लेश्या के द्वारा तेजो लेश्या के
करने में आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जानने का फल है
भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठ में तेजो लेश्या
पुद्गलों को अचित्त कहा है। वह पाठ यह है:—

कयरेणं भंते ! अचित्ता वि पोग्गला उ भासं
जाव पभासंति ?

कालोदाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसड्ढा-
माणी दूरं गता दूरं निवत्तइ, देसं गता देसं निवत्तइ,
जहि जहि च णं सा निवत्तइ तहि तहि च णं ते अचित्ता
उ वि पोग्गला उ भासंति जाव पभासंति ।

(भगवती शतक ७ उद्देशा १०)

अर्थः—(प्रश्न) कालोदायी अनगार भगवान् से प्रश्न
रते हैं कि हे भगवन् ! कौन से अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ?

(उत्तर) हे कालोदायिन् ! क्रोधित हुए अनगार से फेंकी
ई तेजो लेश्या, दूर तक फेंकी हुई, दूर और निकट में फेंकी हुई
कट में जाकर पड़ती है । जहाँ जहाँ वह तेजो लेश्या पड़ती है
हाँ वहाँ उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ।"

यहाँ भगवती सूत्र के मूलपाठ में तेजो लेश्या के पुद्गलों
ो अचित्त कहा है । इसलिए अग्नि के सचित्त पुद्गलों का दृष्टान्त
कर शीतल लेश्या के द्वारा इन अचित्त पुद्गलों को शान्त करने
आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जानने का फल समझना
ाहिए ॥७६॥

हिंसादि कुकर्म थी जी,
खोटी लेश्या थाय ।
जीव रक्षा रा भाव में जी,
भली लेश्या सुखदाय ॥ चतुर० ॥ ७७ ॥
माठी-लेश्या में ना कह्यो जी,
जीव रक्षा रो काम ।

उत्तराध्ययन चौतीस में जी,
लक्षण द्वार रे ठाम ॥ चतुर० ॥ ७८ ॥

भावार्थः—हिंसादि कुकर्म करते समय खोटी (अशुभ) लेश्या होती है किन्तु जीव-रक्षा के कार्य में खोटी लेश्या नहीं होती वहाँ तो शुभ लेश्या होती है क्योंकि अशुभ लेश्या के परिणामों में जीव-रक्षा का कार्य नहीं हो सकता। उत्तराध्ययन सूत्र के चौतीसवें अध्ययन में लेश्याओं का लक्षण बताते हुए यह बात स्पष्ट कही गई है। देखिये वहाँ की गाथायें ये हैं:—

पंचासवप्पमत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणयो, खुद्दो साहसिओ नरो ॥ २१ ॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ।
एय जोगसमाउत्तो, कण्हलेसं तु परिणमे ॥ २२ ॥
(उत्तरा० अध्य० ३४ गा० २१-२२)

अर्थः—हिंसादि पाँच आश्रवों में प्रमत्त यानी मग्न रहने वाला अतएव मन, वचन, काया से अगुप्त अर्थात् मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से रहित, पृथ्वी आदि छः काय के जीवों के उपमर्द से नहीं हटा हुआ, स्वरूप और अध्यवसाय से तीव्र यानी उत्कट सावद्य व्यापार में प्रवृत्त होकर तत्स्वरूपता को प्राप्त, क्षुद्र यानी सभी अहित करने वाला, चोरी आदि बुरे कामों में झट-पट प्रवृत्त हो जाने वाला, इस लोक और परलोक के बिगड़ने की थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला, अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पंचाश्रव प्रमत्तत्व आदि योगों से युक्त पुरुष कृष्ण लेश्या का परिणामी होता है।

यह कृष्ण लेश्या का लक्षण बताया गया है। इस प्रकार अशुभ लेश्या में जीव-रक्षा का कार्य नहीं बन सकता। जीव-रक्षा तो शुभ लेश्या के समय ही होती है ॥७७-७८॥

सदा शुद्ध-लेश्या वीर में जी,
पाप कहो किम होय।
आचारंगे देख लो जी,
प्रभु पाप न कीनो कोय ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

भावार्थः—भगवान् में सदा शुभ लेश्या थी तब फिर भगवान् ने पाप किया यह कैसे कहा जा सकता है। आचाराङ्ग सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ अवस्था में स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमाद नहीं किया था। वह गाथा यह है:—

णच्चा णं से महावीरे, णोवि य पावगं सयमकासी।
अन्नेहिं वा कारित्था, करंतं पि नाणुजाणित्था ॥
(आचा० श्रुत० १ अ० ६ उ० ४ गा० ८)

अर्थात्:—हेय और उपादेय यानी त्यागने योग्य और संग्रह करने योग्य वस्तु को जान कर कर्म की प्रेरणा को सहन करने में समर्थ भगवान् महावीर स्वामी ने न तो स्वयं पाप कर्म किया, न दूसरे से कराया और करते हुए को अच्छा भी न जाना।

इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में न स्वयं पाप किया, न दूसरे से कराया

धरमाचारज राग से जी,
मुनि होवे निरदोप ॥ चतुर० ॥ ८३ ॥
धर्म-राग रत्ता कया जी,
श्रावक रा गुण माँय ।
धर्म-राग करता थकाँ जी,
शुक्ल-लेश्या पिण पाय ॥ चतुर० ॥ ८४ ॥
दया एक रस भाव से जी,
लियो गोशालो बचाय ।
ते राग प्रशस्त प्रभु तणो जी,
धर्म लेश्या रे माँय ॥ चतुर० ॥ ८५ ॥

भावार्थः—छद्मस्थ राग का नाम लेकर भगवान् महावीर स्वामी को चूका कहना तीर्थङ्कर भगवान् की आशातना करना है। तीर्थङ्करों की आशातना करने वाले प्राणी के मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

सरागपने के कार्य में धर्म नहीं होता है ऐसा कथन करना भी मिथ्या है क्योंकि षष्ठम गुणस्थानवर्ती जीव सराग संयम का पालन करते हैं उनके संयम-राग में कोई दोष नहीं है किन्तु असंयम राग दोष में कहा गया है।

अपने धर्म, धर्माचार्य और दया आदि उत्तम गुणों में राग रखना भी सरागता का ही कार्य है परन्तु इससे पाप होना शास्त्र में नहीं कहा गया है बल्कि शास्त्र में इसकी प्रशंसा की है। शास्त्र में ये पाठ आते हैं:—

"धम्मायरियपेमाणुरागरत्ता ।" "अट्ठिमिंज्जा पेमाणुरागरत्ता ।" "तिव्वधम्माणुरागरत्ता ।"

इनके क्रमशः अर्थ ये हैं:—अपने धर्माचार्य में प्रेमानुराग से रक्त। हड्डी और मज्जा में प्रेम और अनुराग से रंगे हुए। धर्म के तीव्र अनुराग से रंगे हुए।

ये बातें शास्त्र में प्रशंसा के लिए कही गई हैं परन्तु धर्माचार्य में प्रेमानुराग रखना, अपने धर्म में तीव्र अनुराग रखना और हड्डी तथा मज्जा में आचार्य के प्रति प्रेमानुराग से रक्त होना सरागता के ही कार्य हैं। इसलिए उन लोगों के मतानुसार इन कार्यों में भी पाप ही होना चाहिए क्योंकि ये सरागता के ही कार्य हैं। शास्त्रकार ने तो इन कार्यों को पाप नहीं किन्तु धर्म जानकर प्रशंसा की है। अतः सरागता के सभी कार्यों में पाप बताना अज्ञानता है।

हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि में राग रखना बुरा है, पाप है किन्तु धर्म, धर्माचार्य, अहिंसा, सत्य, तप, संयम और जीव-दया आदि में राग रखना धर्म है, पाप नहीं है।

तेरहपन्थियों के आचार्य जीतमलजी ने 'भिक्षु यश रसायण' नामक पुस्तक में लिखा है कि:—

"रूडे चित्त भेला रह्या, वरपद संत वदीत हो।"
जाव जीव लगि जाणियो, परम माहोमाही प्रीत हो ॥"

इस पद्य में जीतमलजी कहते हैं कि छः साधुओं का जन्म भर भीषणजी में परम प्रेम था। क्या यह सरागता का कार्य नहीं

है ? यदि है तो तेरहपन्थी इसे पाप क्यों नहीं मानते ? अपने धर्माचार्य में और धर्म में राग रखना सरागता का होने पर भी पाप नहीं है तो फिर जीव-दया में राग रखना का कार्य कैसे हो सकता है ? अतः सरागता के सभी ५ पाप बतला कर भगवान् महावीर स्वामी ने दया के प्रेम से गोशालक की प्राण-रक्षा की थी उसमें पाप बताना मिथ्या है। भगवान् का वह दया रूप राग प्रशस्त था और उसमें शुभ लेश्या थी, अशुभ नहीं। इसलिए गोशालक को बचाने से भगवान् को कोई पाप नहीं लगा। गोशालक की रक्षा करने से पाप होना बता कर भगवान् को 'चूका' कहने वाले महा मिथ्याती हैं ॥८१-८४॥

गोशाला ने बचावियो जी,
पाप जाणता श्याम।
तो सर्व साधाँ ने वर्जता जी,
इसड़ो न करजो काम ॥ चतुर० ॥ ८६ ॥

केवलज्ञान में प्रभु कयोजी,
अनुकम्पा रो धर्म।
गोशाला ने बचावियो प्रभु,
प्रकट करयो यो मर्म ॥ चतुर० ॥ ८७ ॥

भावार्थः—गोशालक को बचाने से पाप होता यदि भगवान् जानते तो केवल ज्ञान होने के पश्चात् भगवान् सब साधुओं से ऐसा कहते कि:—"मैंने गोशालक को बचाकर पाप किया है। तुम ऐसा मत करना" परन्तु इसके विपरीत भगवान् ने तो केवल

ान होने के पश्चात् धर्मोपदेश में यह स्पष्ट फरमाया है कि अनुकम्पा करना धर्म का कार्य है।' ऐसा फरमा कर भगवान् यह जाहिर किया है कि इस अनुकम्पा धर्म को बताने के लिए नि गोशालक की रक्षा की थी ॥८६-८७॥

दोष न लेश प्रभु कयोजी,
गोशाल बचाया माँय।
वीतराग गोपे नहीं जी,
प्रकट देवे फुरमाय ॥ चतुर० ॥ ८८ ॥

भावार्थ:—केवलज्ञानी वीतराग तीर्थङ्कर भगवान् अपने दोष को छिपाते नहीं हैं किन्तु उसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं। अतः गोशालक को बचाने से यदि भगवान् महावीर स्वामी को पाप लगा होता तो केवलज्ञानी होने के बाद वे यह बात स्पष्ट रूप से कह देते किन्तु भगवान् ने इस विषय में कुछ नहीं कहा बल्कि अनुकम्पा करने में धर्म बतलाया है ॥८८॥

गोतम ने प्रभुजी कयोजी,
आनंद लेवो खमाय।
प्राछित ले निर्मल हुवो ज्यूँ,
दोष थाँरो मिट जाय ॥ चतुर० ॥ ८९ ॥
गोतम दोष मिटायवाजी,
प्रकट कह्यो प्रभु आप।
निज नो केम छिपावता जी,
तज दो खोटी थाप ॥ चतुर० ॥ ९० ॥

भावार्थः—एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ शिष्य श्री गौतम स्वामी गोचरी के लिए वाणिज्य ग्राम में पधारे। गोचरी करके जब वे वापिस लौट रहे थे तब बहुत मनुष्यों से ऐसा सुना कि आनन्द श्रावक पौषधशाला में संलेखना संथारा करके धर्मध्यान करता हुआ स्थित है। यह बात सुनकर गौतम स्वामी आनन्द श्रावक को देखने के लिए वहाँ गये। आनन्द श्रावक ने गौतम स्वामी को वन्दना करके यह अर्ज किया कि "हे स्वामिन्! मुझे अवधि ज्ञान उत्पन्न हुआ है जिससे लवण समुद्र में पाँच सौ योजन तक और नीचे लोलुयच्चुए नरकावास को जानता और देखता हूँ।"

यह सुन कर गौतम स्वामी ने कहा कि श्रावक को इतने विस्तार वाला अवधि ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए हे आनन्द तुम इस बात का प्रायश्चित्त करो। तब आनन्द श्रावक ने कहा कि हे स्वामिन्! क्या सत्य बात के लिए भी दण्ड प्रायश्चित्त लिया जाता है? गौतम स्वामी ने कहा—नहीं। आनन्द श्रावक ने कहा हे स्वामिन्! तब तो आप स्वयं दण्ड प्रायश्चित्त लीजिये। आनन्द श्रावक के इस कथन को सुन कर गौतम स्वामी के मन में शंका उत्पन्न हो गई। अतः भगवान के पास आकर सारा वृत्तान्त कहा। तब भगवान् ने फरमाया कि हे गौतम! आनन्द श्रावक का कथन सत्य है। इसलिए वापिस जाकर आनन्द श्रावक से क्षमा मांगो और इस बात का दण्ड प्रायश्चित्त लो जिससे तुम्हारी आत्मा शुद्ध हो जाय। भगवान् के कथनानुसार गौतम स्वामी ने आनन्द श्रावक के पास जाकर क्षमा मांगी और दण्ड प्रायश्चित्त लेकर निर्मल हुए।

इस प्रकार गौतम स्वामी के दोष को मिटाने के लिए भगवान् ने स्पष्ट फरमाया था तब वे अपने दोष को (गोशालक को बचाने से यदि उनको पाप लगा होता तो) कैसे छिपाते? अर्थात् नहीं छिपाते किन्तु स्पष्ट कह देते कि "गोशालक को बचाने से मुझे पाप लगा था।" परन्तु भगवान् ने ऐसा कहीं पर भी नहीं फरमाया है। इसलिए जो लोग यह कहते हैं कि—गोशालक को बचाकर भगवान् 'चूक' गये अर्थात् उन्होंने पाप किया था।" उनका कथन सर्वथा मिथ्या है ॥८६-६०॥

वो प्रकट न्याय न ओखले जी,
जारे माँय मूल मिथ्यात ।
अरिहंत वचन उत्थाप दे ते,
निन्हव कह्या जगन्नाथ ॥ चतुर० ॥ ६१ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी के दोष को तो प्रकट कर दिया तब क्या वे अपने दोष को छिपा लेते? नहीं, कदापि नहीं। बल्कि केवलज्ञानी होने के पश्चात् भगवान् ने तो स्पष्ट फरमाया है कि "छद्मस्थ अवस्था में मैंने कोई पाप सेवन नहीं किया।"

भगवान् के इस प्रकार के स्पष्ट कथन की अवहेलना करके उन पर 'चूका' होने का मिथ्या दोषारोपण करता है वह तीर्थङ्कर भगवान् के वचनों का उत्थापक निन्हव है।

वास्तव में इन तेरह पन्थी लोगों का लब्धि की चर्चा करना व्यर्थ है। लब्धि का प्रयोग न करके चाहे दूसरे उपाय से भी

जीवरक्षा की जाय तो भी ये लोग उसमें पाप ही कहते हैं। किसी मरते प्राणी पर दया लाकर उसकी रक्षा करने को ये लोग मोह-अनुकम्पा, सावद्य अनुकम्पा और एकान्त पाप कहते हैं। भगवान् महावीर स्वामी लब्धि का प्रयोग न करके यदि उपदेश द्वारा भी गोशालक की प्राण-रक्षा करते तो भी इनके मतानुसार भगवान् को एकान्त पाप ही होता। भीषणजी ने लिखा है कि जीवरक्षा करने के अभिप्राय से उपदेश देना जैन धर्म का सिद्धान्त नहीं है, अन्यतीर्थियों का सिद्धान्त है। जैसा कि उन्होंने लिखा है:—

"केई एक अज्ञानी इम कहे, छः काया रा काजे हो देवाँ धर्म उपदेश। एकण जीव ने समझावियाँ, मिट जावे हो घणा जीवाँ रा क्लेश ॥१६॥ छः काय रे घरे शान्ति हुए, एहवा भाषे हो अन्यतीर्थी धर्म। त्याँ भेद न पायो जिन धर्म रो, वे तो भूल्या हो, उदय आया अशुभ कर्म ॥१७॥"

(अनुकम्पा ढाल ६ गाथा १६, १७)

अर्थात्:—कई अज्ञानी कहते हैं कि छः काय के जीवों के घर में शान्ति होने के लिए वे धर्म का उपदेश करते हैं और कहते हैं कि 'एक जीव को समझा देने से बहुत जीवों का क्लेश मिट जाता है' परन्तु छः काया के घरों में शान्ति होने के लिए उपदेश देना जैन धर्म का सिद्धान्त नहीं है। यह अन्यतीर्थी धर्म का सिद्धान्त है। अतः वे भूले हुए हैं और उनके अशुभ कर्म का उदय हुआ है।

इस ढाल में भीषणजी ने मरते जीव की रक्षा के लिए उपदेश देना जैन धर्म से विरुद्ध बतलाया है और भ्रमविध्वंसन के पृष्ठ १२० पर इनके आचार्य जीतमलजी ने लिखा है:—

"श्री तीर्थङ्कर देव पोतना कर्म खपावा तथा अनेरा ने तारिवा ने अर्थे उपदेश देवे इम कह्यूँ पिण जीव बचावा उपदेश देवे इम कह्यो नहीं।"

अर्थात्:—श्री तीर्थङ्कर देव अपने कर्मों का क्षय करने के लिए और दूसरों को तारने के लिए उपदेश देते हैं किन्तु 'जीव-रक्षा' के लिए उपदेश नहीं देते।

यह लिख कर जीतमलजी ने जीव-रक्षा के लिए उपदेश देना जैन धर्म से विरुद्ध ठहराया है। ऐसी दशा में इन लोगों का लब्धि की चर्चा करना व्यर्थ है क्योंकि जब उपदेश द्वारा भी जीव-रक्षा करना इनके मत में पाप है तब दूसरे उपायों से तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य ही पाप होगा ॥६१॥

(कहे) "गोसाला ने बचावियो तो,
बधियो घणो मिथ्यात।
पाप लागो श्री वीर ने जी,
एवी मन में राखे वात ॥ चतुर० ॥ ६२ ॥

भावार्थ:—वे लोग स्पष्ट रूप से तो नहीं कहते किन्तु मन में यह बात रखते हैं कि भगवान् महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया तो बहुत मिथ्यात्व बढ़ा इसलिए भगवान् को पाप लगा। यदि भगवान् गोशालक को न बचाते तो इतना मिथ्यात्व न बढ़ता ॥६२॥

(उत्तर) गोसाला ने बचावियो जी,
हूवो समकित धार ।
श्रीमुख निरणो जिन कियो जी,
जासी मोच मँझार ॥ चतुर० ॥ ६३ ॥

साधू गोशाला तणा जी,
वीर रे शरणे आय ।
तिरिया घणा संसार थी जी,
भाख्यो सूतर माँय ॥ चतुर० ॥ ६४ ॥

श्रावक शरणे आवियो जी,
गोसाला ने छोड़ ।
साधू-श्रावक श्री वीर रा न,
सक्यो गोशालो मोड़ ॥ चतुर० ॥ ६५ ॥

मिथ्याती मिथ्यात में जी,
हुवा गोशाला रा शीप ।
मिथ्यात वधियो किण तरे जी,
खोटी थाँरी रीश ॥ चतुर० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—जो लोग यह मानते हैं कि भगवान् ने गोशालक को बचा लिया तो बहुत मिथ्यात्व बढ़ा। उनकी यह मान्यता भूल भरी है क्योंकि गोशालक को बचा लेने से कौन-सी बुराई हुई क्योंकि उसे स्वयं को सम्यक्त्व-रत्न की प्राप्ति हो गई थी और श्री वीर भगवान् ने अपने श्रीमुख से यह फरमाया था

कि गोशालक मोक्ष जायगा । इस प्रकार उसकी तो हुण्डी सिकर चुकी है । जो लोग जीव-रक्षा में पाप बतला कर अनन्त संसार बढ़ा रहे हैं उनकी अपेक्षा गोशालक लाख दर्जे अच्छा है ।

इस प्रकार उस स्वयं की तो हुण्डी सिकर ही चुकी है और शास्त्रों में यह भी बतलाया गया है कि गोशालक के बहुत से साधु गोशालक को छोड़ कर वीर भगवान् की शरण में आ गये थे और वे अपना आत्म कल्याण कर संसार-सागर से पार हो गये थे। इसी प्रकार गोशालक के बहुत से श्रावकों ने भी गोशालक के मत को छोड़ कर वीर भगवान् के शुद्ध मार्ग को स्वीकार कर लिया था किन्तु वीर भगवान् के किसी साधु या श्रावक को गोशालक अपने मत की तरफ न झुका सका था । जो लोग पहले से ही मिथ्यात्वी थे वे मिथ्यात्व में ही गोशालक के शिष्य बने थे । इसलिए यह मानना कि "गोशालक को बचाने से बहुत मिथ्यात्व बढ़ा था" बिल्कुल गल्त है ॥९२-९६॥

श्रावक गोसाला तणा जी,
त्रस री नहीं करे घात ।
कन्द मूल पिण ना भखे जी,
या सूत्र भगोती में बात ॥ चतुर० ॥ ९७ ॥
तप तो सराहो तेहनो तुम,
खोटी करवा थाप ।
अनुकम्पा रा द्वेष थी बोलो,
जीव बचावा में पाप ॥ चतुर० ॥ ९८ ॥

भावार्थ:—श्री भगवती सूत्र में यह बतलाया गया है कि गोशालक के श्रावक त्रस जीवों की हिंसा नहीं करते और कन्द मूल नहीं खाते हैं।

तुम (भीषण मतानुयायी) लोग भी उनके तप की तो सराहना करते हो, उनके तप को अच्छा बतलाते हो फिर गोशालक को बचाने में पाप क्यों कहते हो? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि तुम लोगों को 'अनुकम्पा' से द्वेष है इसीलिए अनुकम्पा (जीव-रक्षा) में पाप बतलाते हो। यह तुम्हारा कथन मिथ्या है ॥९७-९८॥

वलि कपट करी कुगुरु कहे,
"दो साधु बचाया नाय।"
खोटा न्याय लगावतां जी,
कह्या कठा लग जाय ॥ चतुर० ॥ ९९ ॥

भावार्थ:—वे लोग कहते हैं कि "गोशालक को बचाने से धर्म होता तो केवलज्ञान होने पर भगवान् महावीर स्वामी ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति इन दो मुनियों को क्यों नहीं बचाया था? उन दो मुनियों को नहीं बचाया था इसलिए हम कहते हैं कि मरते प्राणी की प्राणरक्षा करना पाप है।" इस प्रकार वे लोग जीवरक्षा में पाप की स्थापना करते हैं किन्तु यह उनकी अज्ञानता है ॥९९॥

(उत्तर) आयुष आयो तेहनो जी,
देख्यो श्री जिनराज।

निश्चय वान्यो ना टान्यो (जी),
ज्याँ सारया आतम काज ॥ चतुर० ॥१००॥

भावार्थः—शास्त्र के मूल पाठ में तथा टीका में यह कहीं भी नहीं कहा है कि भगवान् महावीर स्वामी ने मरते प्राणी की प्राण-रक्षा करने में पाप जान कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को नहीं बचाया था बल्कि टीकाकार ने यह साफ साफ लिख दिया है कि गोशालक के द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरना अवश्यंभावी था इसलिए भगवान् ने उनकी रक्षा नहीं की। वह टीका यह है:—

"अवश्यम्भाविभावत्वाद्वेत्यवसेयम्"

अर्थात्:—गोशालक के द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरना अवश्य होनहार था इसलिए भगवान् उनकी रक्षा न कर सके। यदि रक्षा करने में पाप होता तो टीकाकार यह स्पष्ट लिख देते कि जीव-रक्षा में पाप होना जान कर भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की परन्तु टीकाकार ने ऐसा नहीं कह कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को नहीं बचाने का कारण 'अवश्य होनहार' बतलाया है। अतः गोशालक की प्राण-रक्षा करने से भगवान् को पाप लगने की प्ररूपणा मिथ्या है ॥१००॥

(कहे) "गोतमादिक गणधर हूँताजी,
छद्मस्थ लब्धि ना धार।
ज्यायें क्यों बचाविया जी,
शीतल लेश्या निकार ॥ चतुर० ॥१०१॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि "केवलज्ञानी होने के कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना जानते थे तथापि गौतमादि गणधर छद्मस्थ थे और लब्धि-धारक भी थे उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं था। यदि रक्षा करने में धर्म था तो उन्होंने शीतल लेश्या निकाल कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा क्यों नहीं की ? इससे जाना जाता है कि जीव-रक्षा करने में धर्म नहीं है ॥१०१॥

(उत्तर) जिन नहिं जिन समा कह्या जी,
गोतमादि गणधार ।
जाणे आयु सर्व नो जी,
वलि होनहार निरधार ॥ चतुर० ॥१०२॥

धर्मघोष-मुनि जाणियो जो
धर्म रुचि विरतन्त ।
सर्वार्थ-सिद्ध में देखियो वे,
पूरवधर था महन्त ॥ चतुर० ॥१०३॥

भावार्थः—चार ज्ञान, चौदह पूर्व के धारक गौतमादि गणधर छद्मस्थ होते हुए भी केवली के समान कहे गये हैं। वे उपयोग लगा कर आयु पूर्ण होना और अवश्यम्भावी होनहार को भी जान सकते हैं। जैसे कि पूर्वधारी महात्मा धर्मघोष आचार्य ने, छद्मस्थ होते हुए भी, उपयोग लगा कर अपने शिष्य धर्मरुचि मुनि का सम्पूर्ण वृत्तान्त जान लिया था और उनकी आत्मा को सर्वार्थसिद्ध में देखा था। अतः गौतमादि गणधर सुनक्षत्र

और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानतापूर्ण है ॥१०२-१०३॥

आयुप मुनि रो जाणता जी,
गोतमादि गणधार।
विहार मुन्याँ ने करावता जी,
ज्यां में दोप न लिगार ॥चतुर०॥१०४॥

निश्चय देख्यो ज्ञान में जी,
ते किम टारयो जाय।
ते जाणी ज्ञानी-मुनि जी,
न शक्या त्याँने बचाय ॥चतुर०॥१०५॥

भावार्थः—गौतमादि गणधर भी उन मुनियों की आयु पूर्ण होना और होनहार को जानते थे।

हम एक दूसरी बात और बताना चाहते हैं कि तेरहपंथी लोग मरते जीव की रक्षा करने में पाप कहते हैं किन्तु किसी साधु को विहार कराने में पाप नहीं कहते हैं ऐसी दशा में भगवान् महावीर स्वामी ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को वहाँ से विहार क्यों नहीं करा दिया? क्योंकि केवलज्ञानी होने के कारण उनको यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालक सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को जलावेगा। ऐसी खबर रहने पर भी भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को जो वहाँ से अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान् को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का गोशालक की क्रोधाग्नि से जल कर

मरना अवश्यम्भावी भाव है यह कैसे टाला जा सकता है। इसी लिए भगवान् ने तथा गौतमादि गणधरों ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करने में पाप होना जान कर नहीं ॥१०४-१०५॥

सो कोसाँ वेर न ऊपजे जी,
अरिहंत अतिशय विशेष ।
समवसरण में ऊपनो ते,
होणहार री रेप ॥ चतुर० ॥१०६॥
निश्चय होण रा नाम से जी,
गोशाल बचाया में पाप ।
उलटा न्याय लगाय ने जी,
थें कर रया खोटी थाप ॥ चतुर० ॥१०७॥

भावार्थः—शास्त्र में कहा है कि तीर्थङ्करों का ऐसा अतिशय होता है कि वे जहाँ विराजते हैं वहाँ सौ कोस तक किसी तरह का उपद्रव नहीं होता। सभी प्राणी वैरभाव को छोड़ कर परस्पर मित्र मित्र की तरह रहते हैं। भगवान् का ऐसा विलक्षण अतिशय होते हुए भी गोशालक ने भगवान् महावीर स्वामी के सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को जला दिया यह होनहार का ही प्रभाव था। अन्यथा भगवान् के अतिशय से ही यह बात नहीं हो सकती थी। जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे? गोशालक की क्रोधाग्नि से सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान् ने उनकी रक्षा के लिए कुछ प्रयत्न नहीं किया था, मरते जीव की

रक्षा में पाप होना जान कर नहीं। अतः सुनक्षत्र और सर्वानु-भूति के अवश्यम्भावी होनहार का उदाहरण देकर जीव-रक्षा में पाप बताना मिथ्या है ॥१०६-१०७॥

सत हेतु सुण समझसी जी,
जां में शुद्ध विवेक।
पक्षपात तज पामसी जी,
निरमल समकित एक ॥ चतुर० ॥१०८॥

भावार्थः—जिनके हृदय में शुद्ध विवेक है ऐसे विवेकी पुरुष पक्ष-पात को छोड़ कर सत्य हेतु और दृष्टान्तों द्वारा समझाये गये वास्तविक एवं सत्य तत्त्वों को समझेंगे वे निर्मल समकित रूप रत्न को प्राप्त करेंगे ॥१०८॥

मिथ्या-खण्डण ने करी जी,
जोड़ जुगत धर न्याय।
शुद्ध भावे श्रद्धया थकां जी,
आनंद मङ्गल थाय ॥ चतुर० ॥१०९॥

संवत उगणीसे तणे जी,
छियासी रे साल।
आषाढ़ शुक्ला पंचमी जी,
वरते मंगल माल ॥
चतुर नर समझो ज्ञान विचार ॥११०॥

भावार्थः—मिथ्या पक्ष को खण्डन करने के लिए यह ढाल सत्य युक्ति और न्याय पूर्वक जोड़ी गई है जो कि संवत् १९८६ के आषाढ़ शुक्ला पञ्चमी को पूर्ण हुई है। जो पुरुष इस पर शुद्ध भाव पूर्वक श्रद्धा करेंगे और सत्य तत्त्वों को समझेंगे वे समकित रत्न को प्राप्त कर अक्षय सुख के निधान मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे ॥१०९–११०॥

॥ इति छठी ढाल सम्पूर्ण ॥

❀ दोहा ❀

सबल निबल ने मारता, देख्या दीनदयाल ।
हितकर धर्म परूपियो, जीवदया प्रतिपाल ॥ १ ॥

भावार्थः—इस संसार में सबल यानी बलवान् प्राणी निर्बल यानी कमजोर को मारता है। इस बात को देख करुणा-सागर, दीनदयाल तीर्थङ्कर भगवान् ने समस्त जीवों के लिए हितकारी दयाधर्म की प्ररूपणा की है ॥१॥

निरबल जीव बचायवा, सबलाँ ने समझाय ।
त्यामें पाप बतावियो, केइक कुमति चलाय ॥ २ ॥

भावार्थः—सबल प्राणी को समझा कर निर्बल प्राणी की रक्षा करना दयाधर्म है। किन्तु कितनेक कुबुद्धि लोग इस कार्य में पाप बतलाते हैं ॥२॥

मांसादिक छुड़ाय दे, अचित्त वस्तु रे साय ।
एकान्त पाप तिण में कहे, केइ कुबुद्धि उठाय ॥ ३ ॥

भावार्थः—कोई दयालु पुरुष किसी मांसाहारी पुरुष को रोटी या चने (भूंगड़े) आदि अचित्त पदार्थ देकर उसका मांसाहार छुड़ा दे तो इस कार्य में कितनेक कुबुद्धि लोग एकान्त पाप मानते हैं ॥३॥

कहे मिश्र श्रद्धाँ नहीं, श्रद्धयाँ हो मिथ्यात।
धर्म पाप एकान्त है, यो खोटो पखपात ॥ ४॥
अल्प-पाप बहु-निर्जरा, सूत्र भगोती देख ।
मूलपाठ प्रभु भाखियो, (तिथी) कूड़ो थारो लेख ॥ ५॥

भावार्थ:—कारण की अपेक्षा कार्य के तीन भेद हो जाते हैं। यथा:—(१) एकान्त धर्म (२) एकान्त पाप (३) मिश्र अर्थात् धर्म और पाप सम्मिलित। इस प्रकार तीन भेद होते हैं किन्तु कुछ लोग मिथ्या पक्षपात में पड़कर कहते हैं कि हम (१) एकान्त धर्म और (२) एकान्त पाप ऐसे दो ही भेद मानते हैं तीसरा मिश्र भेद नहीं मानते।

उन लोगों का यह कथन मिथ्या है क्योंकि भगवती सूत्र के मूल पाठ में 'अल्प पाप बहुनिर्जरा' ऐसा पाठ कहा गया है जिसका अर्थ है 'थोड़ा पाप और बहुत निर्जरा।' भगवती सूत्र के इस पाठ से मिश्र भेद स्वतः सिद्ध है। उस मिश्र भेद को न मानना शास्त्र विरुद्ध है ॥४-५॥

द्वेष अनुकम्पा -दान रो, ज्याँ रे है घट माँय ।
तिणने सत्पथ लायवा, ज्ञानी इम समझाय ॥ ६ ॥

भावार्थ:—जिन लोगों के हृदय में अनुकम्पा से और दान से द्वेष है उन्हें समझाने के लिए ज्ञानी पुरुष निम्न लिखित दृष्टान्त देते हैं ॥६॥

ऋतु चौमासो आवियो, वर्षा वर्षे जोर ।
लट गजाई डेडका, उपन्या लाख किरोर ॥ ७ ।

भावार्थ:—वर्षा ऋतु का समय आने पर किसी समय जोर से बरसात वर्षा जिससे लाखों करोड़ों लट, गजाई और मेंढक आदि बरसाती जीव पैदा हो गये ॥७॥

एक वेश्या एक साधु रा भक्त नो मन हुलसाय।
तिण वेला में नीसरया, बैठा गाड़ी माँय ॥ ८ ॥
साधुभक्त तो साधु रा, दर्शन केरे काम।
वेश्या अभिलाषी तिको, जावे वेश्या धाम ॥ ९ ॥

भावार्थ:—ऐसे समय में एक साधुभक्त पुरुष के हृदय में साधुओं के दर्शन करने की इच्छा हुई और एक वेश्यागामी पुरुष के हृदय में वेश्या के यहाँ जाने की इच्छा हुई। दोनों पुरुष घर से निकल कर घोड़ा गाड़ी में बैठे। साधु भक्त साधुओं के दर्शन करने के लिए जाने लगा और वेश्यागामी पुरुष वेश्या के घर जाने लगा ॥८–९॥

गाड़ी चलताँ चगदिया, जीव अनन्ता जाय।
इतना में बिजली पड़ी, दोइ मुवा ते माँय ॥ १० ॥
धर्मी पापी कोण छे, इण दोयाँ रे माँय।
हिंसा याने सारखी, देवो अर्थ बताय ॥ ११ ॥

भावार्थ:—घोड़ा गाड़ी के चलने से उसके नीचे अनन्ता जीव चींथे गये यानी कचरे गये। इतने में अकस्मात् बिजली गिरी जिससे वे दोनों पुरुष मृत्यु को प्राप्त हो गये।

जो लोग एकान्त पाप और एकान्त धर्म ऐसे दो ही भेद मानने का हठाग्रह करते हैं अब उन लोगों से पूछना चाहिए कि

इन दोनों पुरुषों को गाड़ी के नीचे चींथे जाने वाले जीवों की हिंसा बराबर लगी है। अब बतलाओ इन दोनों में एकान्त पापी कौन है और एकान्त धर्मी कौन है ? ॥१०-११॥

तब तो ते चट ऊचरे, मारा दर्शन काम।
आता रस्ता में मुआ, तिणरा शुध परिणाम ॥१२॥

धर्म लाभ तिणने हुवो, हिंसा तणो तो पाप।
गाड़ी आरंभ थी हुवो, यूँ बोले ते साफ ॥१३॥

वेश्या अर्थे नीकल्यो, तिण में धर्म न कोय।
एकान्त-पाप रो काम ए, यो साँचो लो जोय ॥१४॥

वेश्या अर्थी जाणज्यो, एकान्त-पाप रे माँय।
दर्श(न)अर्थि गाड़ी चढ्यो, धर्म-पाप बेहु थाय ॥१५॥

भावार्थः—तब वे लोग उत्तर देते हैं कि जो हम लोगों के (साधुओं के) दर्शन के लिए आता हुआ रास्ते में मर गया, उस पुरुष के परिणाम शुद्ध थे। इसलिए उन शुद्ध परिणामों की अपेक्षा उसे धर्म लाभ हुआ और घोड़ा गाड़ी चढ़ने से जो आरम्भ हुआ उस हिंसा का उसे पाप लगा और जो पुरुष वेश्या के यहाँ जा रहा था उसे एकान्त पाप हुआ ! तात्पर्य यह है कि वेश्यागामी पुरुष का कार्य और परिणाम दोनों बुरे (अशुद्ध) थे इस लिए एकान्त पाप लगा और साधुओं के दर्शनार्थी पुरुष के परिणाम शुद्ध थे जिसका उसे धर्म लाभ हुआ और गाड़ी पर चढ़ने का आरम्भ हुआ, जीवों की हिंसा हुई जिसका उसे पाप लगा अर्थात् दर्शनार्थी पुरुष को न तो एकान्त धर्म हुआ है और न

एकान्त पाप, किन्तु उसे मिश्र यानी धर्म और पाप दोनों हुए हैं ॥१२-१५॥

मन्दमति यों बोलिया, तब ज्ञानी कहे एम ।
मिश्र तुमे नहिं मानता, (हिवे) बोली बदलो केम ॥ १६ ॥

भावार्थः—उन लोगों के इस उत्तर को सुनकर ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि "तुम लोग तो मिश्र को नहीं मानते थे। अब तुम अपने वचन से क्यों बदलते हो ? अर्थात् साधुदर्शनार्थी पुरुष के 'धर्म और पाप' इस प्रकार मिश्र भेद को क्यों मानते हो ? ॥१६॥

तब पाछा ते यों कहे, दर्शन धर्म रो काम ।
गाड़ी चढ़नो पाप में, इम जूदा बेहु ठाम ॥ १७ ॥

भावार्थः—तब वे उत्तर देते हैं कि साधुओं का दर्शन करना धर्म का कार्य है और गाड़ी चढ़ना पाप का कार्य है। ये दोनों अलग अलग हैं। इस लिए गाड़ी चढ़कर दर्शन के लिए जाने वाले पुरुष को एकान्त पापी या एकान्त धर्मी नहीं कहा जा सकता किन्तु साधु दर्शन से होने वाला धर्म लाभ अलग है और गाड़ी चढ़ने से होने वाला आरम्भ का पाप अलग है। इसलिए उसे धर्म और पाप दोनों होते हैं ॥१७॥

तो इमहीं तुम जाणलो, अनुकम्पा (धर्म) रो काम ।
आरंभ समझो पाप में, इम जूदा बेहु ठाम ॥ १८ ॥

भावार्थः—तब ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि यही बात अनुकम्पा के विषय में भी समझनी चाहिए। दुःखी प्राणी

को देखकर जो अनुकम्पा के भाव आते हैं वे शुद्ध परिणाम हैं वे धर्म में हैं और इसके पश्चात् उसके दुःख को मिटाने के लिए जो कार्य किया जाता है वह आरम्भ पाप में है। अनुकम्पा रूप धर्म का कार्य अलग है और आरम्भ का कार्य अलग है।।१८॥

अणसरते आरंभ हुवे, दर्शन केरे काम।
विन आरंभ दर्शन करे, तो चढ़ता परिणाम ॥१६॥
अणसरते आरंभ हुवे, अनुकम्पा रे काम।
विन आरंभ करुणा करे, तो चढ़ता परिणाम ॥२०॥

भावार्थः—जैसे साधु दर्शन धर्म का कार्य है किन्तु उसके लिए अणसरता अर्थात् लाचारीवश गाड़ी आदि चढ़ने का जो आरम्भ होता है वह पाप में है और बिना किसी प्रकार के आरम्भ के जो दर्शन किये जाते हैं वे उससे विशिष्ट हैं। इसी प्रकार अनुकम्पा धर्म का कार्य है किन्तु उसके लिए अणसरता अर्थात् लाचारीवश जो आरम्भ करना पड़ता है वह पाप में है और जो बिना आरम्भ किये अनुकम्पा की जाती है वह उससे विशिष्ट है ॥१६-२०॥

अनुकम्पा उठाय ने, दर्शन थापे धर्म।
जो या श्रद्धा धारसी, जाड़ा बँधसी कर्म ॥२१॥

भावार्थः—साधु दर्शन और अनुकम्पा दोनों एक सरीखे कार्य हैं किन्तु जो पुरुष साधुदर्शन को तो धर्म का कार्य बतलाता है और अनुकम्पा को एकान्त पाप में बतलाता है उसकी यह श्रद्धा और प्ररूपणा मिथ्या है। ऐसी मिथ्या श्रद्धा और प्ररूपणा करने वाला पुरुष गाढ़ कर्मों से लिप्त होता है ॥२१॥

कीधा कराया भल जाणिया, दर्शन शुभ परिणाम।
कीधा कराया भल जाणिया, करुणा आछो काम ॥ २२ ॥
यो तो न्याय न जाणियो, पड्या टेक अनजाण।
करण जोग बिगाड़िया, मिथ्यामति अयाण ॥ २३ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार साधु दर्शन करना, कराना और करने वाले की अनुमोदना करना ये तीनों करण अच्छे हैं उसी प्रकार अनुकम्पा करना, कराना और अनुमोदना ये तीनों करण अच्छे हैं। यह दर्शन और अनुकम्पा के विषय में समान न्याय है किन्तु जो इस समान न्याय को न मान कर दर्शन को तो धर्म में बतलाता है और अनुकम्पा को पाप बतलाता है वह मिथ्यात्वी अज्ञानी है। उसने तीन करण और तीन योग को बिगाड़ दिया है ॥२२-२३॥

कूड़ा हेतु लगाय नें, मिथ्यामत थापन्त।
ते खंडन करूँ जुगत से, सुणज्यो धर मति खंत ॥ २४ ॥

भावार्थः—उन लोगों ने खोटे हेतु और खोटे दृष्टान्त लगा कर मिथ्यामत की स्थापना करने का खोटा प्रयत्न किया है अब सतहेतु और सत् दृष्टान्तों द्वारा उसका खण्डन किया जाता है। अतः ध्यान पूर्वक सुनो ॥२४॥

सात दृष्टान्त तेने दिया, मिथ्या थापण पन्थ।
म्लेच्छ वचन मुख आणिया, नाम धरायो संत ॥ २५ ॥
लज्जा उपजे म्लेच्छ ने, एवा खोटा न्याय।
तें तो कथता ना डरया, जैनी नाम धराय ॥ २६ ॥

ज्याँरी बुद्धि निरमली, ते सुण दे धिक्कार।
मूरख सुण मोहित हुआ, डूबा काली धार ॥२७॥

भावार्थः—अपने मिथ्या पन्थ की स्थापना करने के लिए उन्होंने सात दृष्टान्त दिये हैं। वे सातों दृष्टान्त ऐसे घृणित और खोटे हेतुपूर्ण हैं जिनका कथन करते हुए एक म्लेच्छ को भी लज्जा आती है किन्तु जैन साधु का नाम धरा कर ऐसे घृणित और खोटी युक्तियों से पूर्ण दृष्टान्त देते हुए उन्हें न लज्जा ही आई है और न परलोक का भय ही आया है। ऐसे दृष्टान्तों को सुनकर निर्मल बुद्धि वाले विवेकी पुरुष तो उन्हें त्याज्य समझ कर धिक्कार देते हैं किन्तु मूर्ख पुरुष उन्हें सुनकर उनमें फँस जाता है और अपनी आत्मा का अधःपतन कर लेता है।२५-२७॥

हिवे खण्डन सातों तणा, कहूँ बहुले विस्तार।
भवियण! भावभरी सुणो, ज्ञान-दृष्टि दिल धार ॥ २८ ॥

भावार्थः—ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि अब उन सात दृष्टान्तों का विस्तार पूर्वक खण्डन किया जाता है। अतः हे भव्य जीवो! हृदय में ज्ञान दृष्टि रख कर जिज्ञासा बुद्धि पूर्वक एकाग्र चित्त से श्रवण करो जिससे आत्मा का कल्याण हो ॥२८॥

—: ढाल-सातवीं :—

(तर्ज—वीर सुणो म्हारी वीनती)

कन्दमूल भखे एक मानवी,
भूख दुखड़ो हो सह्यो नहिं जाय ।
समभू तेने छोड़ाविया,
अचित वस्तु थी हो दीवी भूख मिटाय ॥
भवियण जिनधर्म ओलखो ॥ १ ॥

कन्दमूल भूखा पुरुष री,
करुणा में हो बतावे पाप ।
या श्रद्धा मन्दाँ तणी,
खोटी दीसे हो ज्ञानी ने साफ ॥ भ० ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे भूख से दुःखी बना हुआ कोई पुरुष कन्द-ल खा रहा था। उस पर अनुकम्पा करके किसी दयालु पुरुष उसे रोटी या चने (भूंगड़े) आदि अचित्त वस्तु खाने के लिए दी जिससे उसकी भूख भी मिट गई और कन्दमूल के जीवों की हिंसा भी टल गई। इस प्रकार की अनुकम्पा में जो पाप बतलाता है वह मन्दबुद्धि है। उसकी यह मान्यता एकान्त मिथ्या ॥१-२॥

इम एकान्त पाप परूपताँ,
नहिं शङ्के हो कुगुरु काला नाग।
इण श्रद्धा रो प्रश्न पूछियाँ,
चर्चा में हो जावे दूरा भाग ॥ भ० ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस प्रकार अनुकम्पा में एकान्त पाप की प्ररूपणा करते हुए कुगुरु जरा भी शंकित नहीं होते। उनके हृदय में यह डर नहीं होता कि इस प्रकार की खोटी प्ररूपणा कर हम भोले प्राणियों को भ्रम में डाल कर उनका यह भव परभव दोनों विगाड़ते हैं किन्तु उनके साथ ही हमारे भी यह भव परभव दोनों विगड़ते हैं। ऐसे कुगुरु काले नाग (सर्प) से भी बढ़ कर हैं क्योंकि यदि काला नाग डंक मार दे तो वह तो प्राणहरण कर सिर्फ इस भव का ही अहित करता है किन्तु ये कुगुरु खोटी श्रद्धा रूप मिथ्यात्व में फँसा कर यह भव परभव दोनों विगाड़ते हैं।

इस प्रकार खोटी प्ररूपणा करने वाले इन कुगुरुओं से जब इनकी श्रद्धा के विषय में प्रश्न पूछा जाता है और चर्चा के लिए कहा जाता है तब ये चर्चा करने से दूर भाग जाते हैं॥३॥

भोला जन भेला करी,
खोटा हेतू हो थोथा गाल बजाय।
घर में घुस घुरकाय ने,
इणविध धी हो रया पन्थ चलाय ॥ भ० ॥ ४ ॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुषों के साथ चर्चा करने की तो उनकी हिम्मत नहीं होती किन्तु भोले जीवों के बीच

वैठ कर शृगाल की तरह थोथे गाल बजाते हैं। वे कवि के निम्न लिखित पद्य को यथार्थ रूप से चरितार्थ करते हैं। यथाः—

दस बोगा दस बोगला, दस बोगों का बच्चा।
गुरुजी बैठा गप्पां मारे, चेला जाणे सच्चा॥

अर्थात्:—दस बोगा (मूर्ख) और दस बोगला (मूर्ख स्त्रियां) तथा दस उन बोगों के बच्चे, इस तरह बीस तीस व्यक्तियों को एकत्रित कर उनके बीच में बैठ कर गुरुजी गप्पें मारते हैं। वे बेचारे बोगे उन्हें सच्चा जानते हैं।

अथवा ये लोग अपने पन्थ को चलाने के लिए दूसरी और चाल चलते हैं। वे गृहस्थियों के घर जाकर उन्हें अपना सांसारिक (कौटुम्बिक) रिश्ता, सम्बन्ध आदि बतला कर तथा उनकी आजीविका, नौकरी आदि छुड़ा देने का डर बतला कर उन्हें अपने पन्थ में रहने के लिए बाध्य करते हैं। इस प्रकार ये लोग अपना पन्थ चलाते हैं॥४॥

सुणो दृष्टान्त हिवे तेहना,
किण विध बोले हो ते आल-पंपाल।
बुद्धवन्त बुद्ध थी परख ले,
निरबुद्धी हो फँसे माया-जाल॥भ०॥५॥

भावार्थः—उन्होंने जो दृष्टान्त दिये हैं अब वे बतलाये जाते हैं उन्हें सुनो। उनके दृष्टान्तों को सुनकर बुद्धिमान पुरुष तो उनकी बुद्धि की परीक्षा कर लेता है। सिर्फ निर्बुद्धि ही उनके माया जाल में फँसते हैं॥५॥

(कहे) "सौ मनुष्य ने मरता राखिया,
मूला गाजर हो जमीकन्द खवाय।
(वले) मरता राखिया सौ मानवी,
काचो पाणी हो त्याँने अणगल पाय" ॥ भ० ॥ ६ ॥

इम भोलाँ (ने) भरमायवा,
गाजर मूलाँ रो हो मुख आणे नाम।
वली होको, मांस, मुरदा तणो,
नाम लेवे हो भ्रम घालण काम ॥ भ० ॥ ७ ॥

भावार्थः—उन्होंने दृष्टान्त दिये हैं कि "सौ मनुष्य भू[ख]
से मर रहे थे उन्हें गाजर, मूला आदि जमीकन्द खिला कर त[था]
मांस अथवा मृतकलेवर (मुर्दों का शरीर) खिला कर उनकी भू[ख]
मिटा कर उनकी रक्षा कर दी। इसी प्रकार सौ आदमी प्यास [से]
मर रहे थे उन्हें सचित्त कच्चा पानी खूब पिला कर उनकी र[क्षा]
कर दी। सौ मनुष्यों का पेट दुख रहा था उन्हें हुक्का पिला[कर]
उनका पेट आराम कर दिया तो अनुकम्पा के इन कार्यों में [धर्म]
कैसे हो सकता है? इसलिए अनुकम्पा करना एकान्त पाप है
मरते हुए प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप है।"

इस प्रकार घृणित पदार्थों का नाम लेकर वे अनुकम्पा [में]
पाप की स्थापना करते हैं ॥६-७॥

फासु-अन्न थी मरता राखियाँ,
तिण री तो हो छिपावे नाम।

जाणे खोटी-श्रद्धा चौड़े पड़े,
जद बिगड़े हो ऊँधा-पन्थ रो काम ॥ भ० ॥ ८ ॥

भावार्थः—उन्होंने ऊपर जो दृष्टान्त दिये हैं उन सब में घृणित एवं निन्दित पदार्थों का नाम लिया है किन्तु अचित्त वस्तु रोटी, चने (भूंगड़े) आदि का नाम नहीं लिया है। ऐसे अचित्त पदार्थों का नाम लेने से उनको यह डर है कि उनकी खोटी श्रद्धा का सारा पर्दा फाश हो जायगा और उस समय इस ऊंधे पंथ का सारा काम ही बिगड़ जायगा क्योंकि इस पन्थ की मान्यता यह है कि किसी प्राणी पर अनुकम्पा करना पाप है; मरते प्राणी की रक्षा करना पाप है। चाहे किसी उपाय से रक्षा की जाय ये लोग रक्षा में पाप मानते है। अपनी इस खोटी मान्यता का प्रचार करने के लिए मांस, मृतकलेवर आदि घृणित पदार्थों का नाम लेकर भोली जनता को भ्रम में डालते हैं।

पाठको ! जरा सोचने की बात है कि एक दयाधर्मी पुरुष के घर में भूखे आदमी को खिलाने के लिए क्या गाजर मूला, मांस और मृतकलेवर आदि घृणित पदार्थ मिलेंगे या रोटी मिलेगी ? निष्पक्षपात बुद्धि से निस्संकोच यह कहना पड़ेगा कि दयाधर्मी गृहस्थ के घर में तो रोटी मिलेगी। पता नहीं शायद जिन साधु नामधारियों ने ये घृणित पदार्थों के नाम दिये हैं उनके मतानुयायी गृहस्थों के घर में भूखे आदमी को खिलाने के लिए मांस और मृतकलेवर आदि पदार्थ ही मिलते हों, किन्तु एक सच्चे दयाधर्मी के घर में तो ये पदार्थ कदापि नहीं मिल सकते। उसके घर में तो रोटी मिलती है और रोटी खिलाकर ही वह भूखे आदमी की भूख शांत कर उसकी रक्षा करता है।

फिर प्रश्न यह पैदा होता है कि जब दयाधर्मी गृहस्थ के घर में सहज स्वाभाविक रूप से रोटी मिलती है और वह किसी भूख से मरते हुए प्राणी पर अनुकम्पा करके उसे रोटी खिला कर उसकी रक्षा करता है तो फिर इन लोगों ने रोटी का नाम न लेकर मांस और मृत कलेवर आदि घृणित पदार्थों का नाम क्यों लिया? तो इसका उत्तर यह है कि इन लोगों को अनुकम्पा से द्वेष है। ये संसार से अनुकम्पा धर्म को उठा देना चाहते हैं। इस लिए अनुकम्पा के प्रति घृणा पैदा करने के लिए ऐसे घृणित पदार्थों के नाम लिए हैं ताकि भोली जनता इनके इस कपट-जाल को समझ न सके और वह इनके जाल में फँस जाय किन्तु विद्वानों के सामने इनका यह कपट-जाल छिपा नहीं रह सकता। वे तो इनके इस कपट-जाल को फौरन ताड़ जाते हैं। जो लोग भोले हैं वे ही इनके कपट जाल में फँसते हैं ॥८॥

कोई जीव मारे पंचेन्दरी,
भूख दुखड़ो हो मिटावण काम।
(तिणने) समझाय अचित-अन्न से,
पाप मिटायो हो कोई शुध परिणाम॥ भ० ॥ ९ ॥
जीव बचियो पंचेन्दरी,
तिण रो टलियो हो दुःख आरत पाप।
मारणवाला ने टल्यो,
हिंसाकारी हो मोटो कर्म सन्ताप ॥ भ० ॥ १० ॥
इम मरताँ ने मारणहार रे,
शान्ति करता हो सायक बुद्धिमान।

एकान्तपाप तिण में कहे,
ते तो भून्या हो जिन-धर्म रो भान॥ भ० ॥ ११ ॥

भावार्थः—जैसे कोई एक भूखा मनुष्य भूख से अत्यन्त व्याकुल होकर अपनी भूख मिटाने के लिए किसी पञ्चेन्द्रिय प्राणी को मारने लगा। उस समय किसी दयालु पुरुष ने उसे पञ्चेन्द्रिय जीव की हिंसा का महान् पाप समझा कर उसकी भूख को मिटाने के लिए रोटी चने (भूंगड़े) आदि अचित्त पदार्थ दे दिये जिसे खाकर उसने अपनी भूख शान्त कर ली और पंचेन्द्रिय जीव को छोड दिया इस प्रकार पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा हो गई। मृत्यु के भय से होने वाला आर्त्त रौद्रध्यान सम्बंधी पापकर्मबंध उसका टल गया और मारने वाला पुरुप पंचेन्द्रिय-जीव की हिंसा से बच गया।

इस प्रकार बुद्धिमान् दयालु पुरुप मारने वाले पुरुप के और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी के दोनों के पाप कर्मबन्ध को टाल देता है। जिसमें किसी भी जीव की हिंसा नहीं होती ऐसे पवित्र एवं निर्दोप कार्य में भी जो लोग पाप मानते हैं वे अनुकम्पा के द्वेपी हैं। उन्होंने जैनधर्म का रहस्य ही नहीं समझा है बल्कि अनुकम्पा सरीखे पवित्र कार्य में पाप बता कर वे अपने जैनी नाम को भी कलङ्कित करते हैं॥ ६–११॥

जीव बचे आरंभ मिटे,
तिण में पिण हो बतावे पाप।
ते जीव बचे आरंभ हुवे,
(एवा) प्रश्न पूछे हो खोटी नीयत साफ॥ भ०॥ १२॥

जो पूनम-चन्द्र माने नहीं,
आठम चन्द्र री हो पूछे ते वात ।
चतुर चेतावे तेहने,
पूछण जोगो हो तूँ रह्यो किण भाँत ॥ भ० ॥ १३ ॥
जो वर्णमाला माने नहीं,
शुद्धा-शुद्ध नो हो पूछे शास्त्र उचार ।
ते मूरख छे संसार में,
मिथ्या-भाषी हो तिणरे नाहीं विचार ॥ भ० ॥ १४ ॥
इण दृष्टान्ते जाणज्यो,
कुतरकी हो मिथ्यावादी अतोल ।
जीव बचियां पुन्न (धर्म) माने नहीं,
आरंभ ना हो मुख आणे बोल ॥ भ० ॥ १५ ॥

भावार्थः—जिस कार्य से जीव की रक्षा हो जाय और किसी प्रकार का आरम्भ न हो ऐसे कार्य में भी जो पुरुष पाप बताता है तो आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय में उसका प्रश्न पूछना उसकी खोटी नियत एवं दुर्भावना को जाहिर करता है। उसका यह प्रश्न पूछना व्यर्थ है। जिस प्रकार जो पुरुष पूर्णिमा के चन्द्रमा को नहीं मानता, उसका अष्टमी के चन्द्रमा के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है तथा जो पुरुष क ख आदि वर्णमाला को ही नहीं मानता उसका शास्त्र सम्बन्धी शुद्धाशुद्ध उच्चारण के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है वही प्रकार बिना आरम्भ होने वाली जीव-रक्षा में भी जो पुरुष धर्म को

पुण्य नहीं मानता, उसका आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है ॥१२-१५॥

जीव बचे आरंभ मिटे,
पुन्य-धरम हो तिण में श्रद्धे नाय ।
आरंभ थी जीव ऊगरे,
एवा प्रश्न ते हो पूछे किण न्याय ॥ भ० ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिस कार्य से आरम्भ मिट जाय और मरते प्राणी की प्राण-रक्षा हो जाय ऐसे कार्य में भी जो पुरुष पुण्य और धर्म नहीं मानता, वह आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय में कैसे प्रश्न पूछ सकता है ? उसका प्रश्न पूछना निरर्थक है क्योंकि जो अनुकम्पा आरम्भ पूर्वक हो और जो विना आरम्भ के हो सभी प्रकार की अनुकम्पा में वह तो पाप ही मानता है फिर आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय में प्रश्न पूछने का क्या अर्थ होता है ? यही कि आरम्भ का नाम लेकर अनुकम्पा को बुरी बताया जाय और भोले लोगों को भ्रम में डाल कर उनके हृदय से अनुकम्पा उठाई जाय ।

जिस प्रकार जो पुत्र अपने पिता के अस्तित्व को भी न माने उसका अपने दादा के विषय में प्रश्न पूछने का क्या अर्थ हो सकता है ? यही कि अपनी सारी वंशपरम्परा को वर्णसंकर बताया जाय अथवा उसका अपने दादा के विषय में प्रश्न पूछना निरर्थक है उसी प्रकार जो पुरुष विना आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा में भी धर्म न मानता हो उसका आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है क्योंकि वह तो जीव-रक्षा मात्र में ही पाप मानता है ॥१६॥

जो पूनम-चन्द्र माने नहीं,
आठम चन्द्र री हो पूछे ते-वात।
चतुर चेतावे तेहने,
पूछण जोगो हो तूँ रह्यो किण भाँत ॥ भ० ॥ १३ ॥

जो वर्णमाला माने नहीं,
शुद्धा-शुद्ध नो हो पूछे शास्त्र उचार।
ते मूरख छे संसार में,
मिथ्या-भाषी हो तिणरे नाहीं विचार ॥ भ० ॥ १४ ॥

इण दृष्टान्ते जाणज्यो,
कृतरकी हो मिथ्यावादी अतोल।
जीव बचियां पुन्न (धर्म) माने नहीं,
आरंभ ना हो मुख आणे बोल ॥ भ० ॥ १५ ॥

भावार्थः—जिस कार्य से जीव की रक्षा हो जाय और किसी प्रकार का आरम्भ न हो ऐसे कार्य में भी जो पुरुष पाप बताता है तो आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय में उसका प्रश्न पूछना उसकी खोटी नियत एवं दुर्भावना को जाहिर करता है। उसका यह प्रश्न पूछना व्यर्थ है। जिस प्रकार जो पुरुष पूर्णिमा के चन्द्रमा को नहीं मानता, उसका अष्टमी के चन्द्रमा के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है, तथा जो पुरुष क ख आदि वर्णमाला को ही नहीं मानता उसका शास्त्र सम्बन्धी शुद्धाशुद्ध उच्चारण के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है उसी प्रकार बिना आरम्भ होने वाली जीव-रक्षा में भी जो पुरुष धर्म और

पुण्य नहीं मानता, उसका आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है ॥१२–१५॥

जीव बचे आरंभ मिटे,
पुन्य-धरम हो तिण में श्रद्धे नाय।
आरंभ थी जीव ऊगरे,
एवा प्रश्न ते हो पूछे किण न्याय ॥ भ० ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिस कार्य से आरम्भ मिट जाय और मरते प्राणी की प्राण-रक्षा हो जाय ऐसे कार्य में भी जो पुरुष पुण्य और धर्म नहीं मानता, वह आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय में कैसे प्रश्न पूछ सकता है? उसका प्रश्न पूछना निरर्थक है क्योंकि जो अनुकम्पा आरम्भ पूर्वक हो और जो विना आरम्भ के हो सभी प्रकार की अनुकम्पा में वह तो पाप ही मानता है फिर आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय में प्रश्न पूछने का क्या अर्थ होता है? यही कि आरम्भ का नाम लेकर अनुकम्पा को बुरी बताया जाय और भोले लोगों को भ्रम में डाल कर उनके हृदय से अनुकम्पा उठाई जाय।

जिस प्रकार जो पुत्र अपने पिता के अस्तित्व को भी न माने उसका अपने दादा के विषय में प्रश्न पूछने का क्या अर्थ हो सकता है? यही कि अपनी सारी वंशपरम्परा को वर्णसंकर बताया जाय अथवा उसका अपने दादा के विषय में प्रश्न पूछना निरर्थक है उसी प्रकार जो पुरुष विना आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा में भी धर्म न मानता हो उसका आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा के विषय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है क्योंकि वह तो जीव-रक्षा मात्र में ही पाप मानता है॥१६॥

*** अग्नि, पाणी, होका नो वली,**
त्रस-मांस ना हो मन्द दृष्टान्त गाय।
मुरदा खवाया रो नाम ले,
नहिं लाजे हो जैनी नाम धराय ॥ भ० ॥ १७ ॥

---

* जैसा कि वे कहते हैं :—

पेट दुःखे तड़फड़ करे,
जीव दोरा हो करे हाय-विराय।
शान्ति वपराई सौ जणा,
मरता राख्या हो त्यांने होको पाय॥
भवियण जिन-धर्म ओलखो ॥ ७ ॥

सौ जणा दुर्भिक्षकाल में,
अन्न बिना हो मरे उजाड़ मांय।
कोइक मारे त्रस-काय ने,
सौ जणाँ ने हो मरता राख्या जिमाय ॥ भवि० ॥ ८ ॥

किणहिक काले अन्न बिना,
सौ जणाँ रा हो जुदा होवे जीव काय।
सहजे कलेवर मुवो पड़ियो,
कुशले राख्या हो त्यांने तेह खुवाय ॥ भवि० ॥ ९ ॥

वली मरता देखी सौ रोगला,
मंमाई बिना हो ते साजा न थाय।
कोई मंमाई करे एक मनुष्य री,
सौ जणाँ रे हो शान्ति कीधी बचाय ॥ भवि० ॥१०॥

(अनुकम्पा ढाल ७ गाथा ७ से १०)

भावार्थः—अनुकम्पा को उठाने के लिए उन लोगों ने हुक्का पिलाना, त्रस जीव का मांस खिलाना तथा मुर्दा खिलाना आदि घृणित पदार्थों के दृष्टान्त दिये हैं। विचारने की बात है कि भूख से मरते हुए पुरुष पर अनुकम्पा करके क्या कोई दयालु पुरुष उसे मांस और मुरदा खिलावेगा ? वे जैनी नाम धराते हैं उन्हें घृणित पदार्थों का दृष्टान्त देते हुए जरा भी शर्म नहीं आई। वे अपने को जैनी कह कर "जैन" शब्द को कलङ्कित करते हैं ॥१७॥

पेट दुःख थी होको पीवता,
अचित्त औषधे हो दीनो होको छोड़ाय।
आरम्भ टलियो छहु काय नो,
इण काम में हो हुवो धर्म के नाय भ० ॥ १८ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि "कोई पुरुष पेट दर्द को मिटाने के लिए हुक्का पी रहा था। किसी दयालु वैद्य ने उसे अचित्त औषधि देकर उसका हुक्का छुड़ा दिया। इससे हुक्के में होने वाला अग्नि पानी आदि छहों काय का आरम्भ टल गया। अब बताओ इस कार्य में क्या हुआ ? धर्म हुआ या पाप ? ॥१८॥

दारू पीता देख ने,
छुड़ायो हो कोई दूध पिलाय।
थांरी श्रद्धा से कहो,
इण में तुम हो धर्म श्रद्धो के नाय ॥ भ० ॥ १९ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि कोई पुरुष शराब पीता था उसे देख कर किसी पुरुष ने उसे दूध पिला कर शराब पीना छुड़वा दिया। अब तुम अपनी मान्यतानुसार यह बतलाओ कि इस कार्य में तुम क्या मानते हो ? धर्म मानते हो या पाप ? ॥१६॥

एक मुर्दा री मांस खवाय ने,
भूखा री हो मेटतो थो भूख।
दयावन्त दया दिल आणी ने,
रोटी देई हो मेट दियो दुःख ॥ भ० ॥ २० ॥

अभक्ष छुड़ायो भक्ष थी,
नर्क निमित्त हो टलाया कर्म।
थांरी श्रद्धा थी कहो,
इण काम में हो हुवो के नहिं धर्म ॥ भ० ॥ २१ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि—कोई पुरुष भूख से दुःखी हो रहा था उसके इस दुःख को मिटाने के लिए कोई पुरुष उसे मुर्दा का मांस खिला रहा था उसे देखकर किसी दयावान् के हृदय में दया आई। उसने रोटी खिला कर उसके भूख के दुःख को मिटा दिया। पंचेन्द्रिय का मांस भक्षण नरक का निमित्त कारण है उसको उस दयालु पुरुष ने टाल दिया और भक्ष्य पदार्थ द्वारा उसका अभक्ष्य छुड़ा दिया। अब तुम अपनी मान्यता के अनुसार बताओ कि इस कार्य से उस दयालु पुरुष को क्या हुआ ? धर्म हुआ या पाप ? ॥२०-२१॥

नर मार मनुष्य बचाविया,
 मंमाई नो हो एम हेतु लगाय।
एवा कुदृष्टान्त मेलवे,
 ते सुणने हो ज्ञानी लज्जा पाय ॥ भ० ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्य को मार कर मंमाई पाड़ी जाती है अर्थात् किसी मनुष्य के सिर में और शरीर में तेज छुरी से गहरे घाव कर दिये जायँ। इसके बाद किसी वृक्ष आदि की डाली पर उसके पैर बांध कर शिर नीचे की तरफ लटका दिया जाय। इस प्रकार उस पुरुप को ऊंधा लटका कर नीचे एक चूल्हे पर एक कड़ाही रख दी जाय। उसमें तेल डाल कर उसे खूब गर्म किया जाय। उस उबलते हुए तेल में ऊपर से ऊंधे लटकाये हुए पुरुष के शरीर से जो खून की बूंदे गिरती जायं उसे 'मंमाई' कहते हैं।

उन लोगों ने एक ऐसा दृष्टान्त दिया है कि किसी ने एक मनुष्य की 'मंमाई' बना कर सौ मनुष्यों की रक्षा की। इसमें धर्म कैसे हो सकता है। इसलिए 'जीव-रक्षा' में धर्म नहीं हो सकता जीवरक्षा करना पाप है।

ऐसा घृणित दृष्टान्त देकर उन्होंने 'जीवरक्षा' को पाप का कार्य बताने की धृष्टता की है। ऐसे घृणित दृष्टान्त सुनकर ज्ञानी पुरुष लज्जित होते हैं। किन्तु जो निर्लज्ज एवं दयाहीन हैं उन्हें ऐसे दृष्टान्त देते शर्म नहीं आती।

यह दृष्टान्त नहीं किन्तु कुदृष्टान्त है क्योंकि आज के युग में इस आर्य देश में कहीं किसी ने इस प्रकार मनुष्य की 'मंमाई' पाड़ कर इलाज करते देखा और सुना है? फिर ऐसे कुदृष्टान्त

देने का उनका क्या अभिप्राय है? उनका सिर्फ एक ही अभिप्राय है कि ऐसे घृणित दृष्टान्त देकर मनुष्यों के हृदय से दया-अनुकम्पा निकाल दी जाय। यह उन लोगों का कार्य क्या उस मूर्ख के कार्य से कम मूर्खता का कार्य है जो वृक्ष की जिस डाल पर बैठा हो वह कुल्हाड़ी से उसी को काट रहा हो।

पाठको! जरा उस क्षण की कल्पना कीजिये कि भगवान् ऐसा न करे किन्तु इन लोगों के प्रयत्न से यदि संसार के समस्त प्राणियों के हृदय से दया उठ जाय और सब के सब भीषण पुरुषों की तरह दयाहीन निर्दयी बन जायें तो उस समय संसार का क्या हाल हो? क्या कोई एक क्षण भी जीवित रह सकता है? क्या एक ही क्षण में संसार में प्रलय का दृश्य न दिखाई देगा? क्या उस समय ये लोग जो ऐसे कुदृष्टान्त देकर दया को उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं वे स्वयं जीवित रह सकते हैं? क्या उस समय के निर्दयी बने हुए लोग ऐसे 'मंमाई' के कुदृष्टान्त देने वाले इन लोगों की स्वयं की 'मंमाई' पाड़ कर इन्हें अपने कुदृष्टान्त देने का मजा न चखा देंगे? तब इन लोगों की आँखें खुलेंगी कि ऐसे कुदृष्टान्त देकर लोगों के हृदय से दया उठा देने का क्या फल होता है? यह तो जिस डाली पर बैठा है उसी को कुल्हाड़ी से काटना या स्वयं पैरों पर कुल्हाड़ी मारने सरीखी मूर्खता से कम नहीं है। खैर! ज्ञानी पुरुषों के हृदय में तो ऐसे मूर्ख प्राणियों पर दया होती है। इसलिए अब इनके कुदृष्टान्त का उत्तर दिया जाता है ॥२२॥

कोई ज्ञानी पूछे तेहने,
एक रोगी हो रयो अति दुःख पाय।

तिहाँ आयो वैद्य चलाय ने,
मंमाई पाडण री तिण रे चित में चाय ॥ भ० ॥ २३ ॥
दयावन्तो सहज उपाय थी,
रोगी ना हो दीना रोग मिटाय ।
मंमाई थी मरतो नर बच्यो,
पाप धर्म रो हो देवो भेद बताय ॥ भ० ॥ २४ ॥

भावार्थः—उपरोक्त कुदृष्टान्त देने वालों से ज्ञानी पुरुष पूछते हैं कि—थोड़े समय के लिए तुम्हारा दृष्टान्त मान लिया जाय कि कोई एक पुरुष रोगी है, रोग से वह अत्यन्त दुःख पा रहा है उसे देखने के लिए एक वैद्य वहाँ आया। उसे देख कर उसके रोग को मिटाने के लिए एक मनुष्य की 'मंमाई' पाड़ने का विचार करने लगा। इतने में ही दयावान् वैद्य वहाँ आगया। उसने कोई ऐसी सहज सुलभ अचित्त औषधि उसे देकर उसका रोग मिटा दिया।

इस प्रकार रोगी का रोग शान्त हो गया और 'मंमाई' पाड़ने वाले पुरुष के प्राण बच गये। अब तुम (तेरह पन्थी) लोग अपनी मान्यता के अनुसार बतलाओ कि इस कार्य में धर्म हुआ या पाप ? ॥२३-२४॥

भद्रिक अनुकम्पा करे,
अल्पारम्भी हो हलुकर्मी जीय ।
महारम्भी महा परिग्रही,
तिण रे घट में हो करुणा किम होय ॥ भ० ॥ २५ ॥

भावार्थः—कोई भद्रपरिणामी, अल्पारम्भी और हलुकर्मी जीव ही अनुकम्पा कर सकता है किन्तु महारम्भी और महापरिग्रही पुरुष अनुकम्पा नहीं कर सकता। उसके हृदय में अनुकम्पा हो ही कैसे सकती है ? ॥२५॥

मोटी हिंसा त्रस-काय नी,
थावर नी हो छोटी सूत्र में जोय।
आवश्यक, उपासक दशा,
भगोती में हो प्रभु भाखी सोय ॥ भ० ॥ २६ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने आवश्यक सूत्र, उपासक दशाङ्ग सूत्र और भगवती सूत्र में त्रसजीव की हिंसा को स्थूल (बड़ी) हिंसा बतलाया है और स्थावर जीवों की हिंसा को सूक्ष्म (छोटी) हिंसा कहा है। इसी प्रकार त्रस जीव की हिंसा करने वाले को महारम्भी और स्थावर की हिंसा करने वाले को अल्पारम्भी कहा है ॥२६॥

मोटी हिंसा जूठ चोरी री,
श्रावक रे हो व्रत री मर्याद।
अल्पारम्भी श्रावक कह्या,
आँख खोली हो देखो संवाद ॥ भ० ॥ २७ ॥

भावार्थः—श्रावक के स्थूल हिंसा, स्थूल मृषावाद और स्थूल चोरी का त्याग होता है। इसलिए श्रावक अल्पारम्भी कहा गया है ॥२७॥

दया भाव दिल आण ने,
सौ मिनखां रा हो बचावसी प्राण।
ते अल्पारम्भी जाणज्यो,
अनुकम्पा रो हो यो मर्म पिछाण॥ भ० ॥ २८ ॥

अल्पारम्भी नर हुवे,
त्रस जीव ने हो ते मारे केम।
अनुकम्पा उठावण करणे,
थां तजियो हो बोलण रो नेम॥ भ० ॥ २६ ॥

भावार्थः—जो दयालु पुरुष हृदय में दया लाकर सौ मनुष्यों के प्राण बचावेगा उसे अल्पारम्भी समझना चाहिए क्योंकि अल्पारम्भी पुरुष के हृदय में ही अनुकम्पा आ सकती है, महारम्भी के नहीं। वह अल्पारम्भी पुरुष त्रस जीव की हिंसा कैसे कर सकता है? और त्रस जीवों में भी मनुष्य सरीखे पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा कैसे कर सकता है? अर्थात् वह मनुष्य की हिंसा कदापि नहीं कर सकता। फिर भी उन लोगों ने निर्लज्ज होकर तथा वचन का कुछ भी ख्याल न करके अनुकम्पा को उठाने के लिए ऐसा घृणित दृष्टान्त दिया है॥२८-२६॥

एकेन्द्री पंचेन्द्री सारीखा,
एम बोले हो कुगुरु कूड़ा बोल।
धान मांस सरीखो कहे,
चर्चा कीधाँ हो खुल जावे पोल॥ भ० ॥ ३०॥

भावार्थः—कुगुरु कहते हैं कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनों सरीखे हैं अर्थात् गेहूँ, जौ आदि धान और बकरा दोनों एक सरीखे हैं। गेहूँ की रोटी और बकरे का मांस दोनों एक सरीखे हैं परन्तु कुगुरुओं का यह कथन नितान्त मिथ्या है। इस विषय में चर्चा करने पर उनकी पोल खुल जाती है ॥३०॥

धान अचित्त खावो तुम्हें,
मांस अचित्त हो खावो के नाँय ?
तब कहे 'म्हे खावाँ नहीं,'
माँस आहारे हो महा कर्म बंधाय ॥ भ० ॥ ३१ ॥

मांस आहार नरक हेतु है,
ठाणायंग हो उवाई रे माँय ।
म्हें साधू बाजाँ जैन रा,
मांस खादे हो साधुता उठ जाय ॥ भ० ॥ ३२ ॥

भावार्थः—एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा कहने वाले उन कुगुरुओं (भीषण मतानुयायी साधुओं) से पूछना चाहिए कि—जैसे गेहूँ आदि धान की बनी हुई अचित्त रोटी तुम खाते हो वैसे ही अचित्त मांस तुम खा सकते हो या नहीं ?

तब तो वे कहते हैं कि "हम जैन के साधु कहलाते हैं, मांस कैसे खा सकते हैं ! मांस खाने से महाकर्मबन्ध होता है। ठाणाङ्ग और उववाइ आदि सूत्रों में 'मांस भक्षण' नरकगमन का कारण कहा गया है। मांस खाने से हमारी साधुता नष्ट हो जाती है ॥३१-३२॥

मांस, धान एक सारीखा,
मूण्डा थी हो तुम्हें कहता एम ।
काम पड्यो जद बदलिया,
परतीती हो थारी आवे केम ॥ म० ॥ ३३ ॥

धान (रोटी) मांस अचित बेहू,
धान खावो हो मांस खावो नाय ।
तो सरखा हिवे ना रह्या,
किम भोलाँ ने हो नाख्या भ्रम रे मांय ॥ म० ॥ ३४ ॥

भावार्थः—तब उन कुगुरुओं से कहना चाहिए कि—तुम स्वयं अपने मुँह से यह बात कह रहे थे कि धान और मांस दोनों एक सरीखे हैं किन्तु तुम स्वयं अपने व्यवहार में इस बात को नहीं लाते अर्थात् धान की बनी हुई रोटी और मांस दोनों अचित्त हैं, इन में से रोटी तो तुम खाते हो किन्तु मांस नहीं खाते तो इससे जाहिर है कि धान (रोटी) और मांस दोनों एक सरीखे नहीं हैं। फिर "धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनों एक सरीखे हैं" ऐसा कथन कर तुमने भोले जीवों को भ्रम में क्यों डाल रखा है ? तुम कहते कुछ और हो और करते कुछ और हो, तो तुम्हारा विश्वास कैसे आ सकता है ? ॥३३-३४॥

धान (रोटी) खादे संजम पले,
मांस खादे हो साधू नरक में जाय ।
(तेथी) सातों दृष्टान्त सरीखा नहीं,

भावार्थः—रोटी खाने से साधु के संयम का पालन होता है किन्तु मांस खाने से संयम (साधुता) का नाश हो जाता है और वह नरक का अधिकारी बन जाता है। इसलिए धान और मांस को अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा कहना महा-अज्ञानता है।

इसी प्रकार उन लोगों ने हुक्का पिलाना, गाजर, मूली खिलाना आदि सात दृष्टान्त दिये हैं वे भी एक सरीखे नहीं हैं। उनमें भी योग्य और अयोग्य का महान् अन्तर है। इसलिए ऐसे दृष्टान्त देकर भोले लोगों को भ्रम में डालना धोखेबाजों का काम है ॥३५॥

जो सम परिणामी साधु रे,
धान (रोटी) मांस में हो बहुलो अन्तर होय।
तो गृहस्थ रे सरीखा किम हुवे,
पक्ष छोड़ो हो ज्ञान नयने जोय ॥ भ० ॥ ३६।

भावार्थः—समपरिणामी साधु के लिए जब धान (रोटी) और मांस में बहुत अन्तर है तब गृहस्थ के लिए वे दोनों समान कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् दोनों एक सरीखे नहीं हो सकते। इसलिए धान और मांस को अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा कहने का मिथ्या पक्ष छोड़ देना चाहिए ॥३६॥

जो मांस धान सरीखा कहो,
बेहू खाधा हो होसी मुनि रे धर्म।
बेहू अचित एक सारखा
थारे लेखे हो नहीं राखणो भर्म ॥ भ० ॥ ३७।

जो साधु रे सरीखा कहे नहीं,
　कौण माने हो तव वचन प्रतीत ।
आप थापी आप उथाप दी,
　थारी श्रद्धा हो परतख विपरीत ॥ भ० ॥ ३८ ॥

भावार्थः—जो कुगुरु यह कहते हैं कि 'धान और मांस' एक सरीखे हैं। उनकी इस मान्यतानुसार इन दोनों चीजों का सेवन करने से मुनि को धर्म होगा किन्तु जो मुनि के लिए इन दोनों चीजों को एक सरीखा न कहे किन्तु दूसरों के लिए एक सरीखा बतावे तो उसके वचन पर कौन विश्वास करेगा? जो अपने मुख से किसी बात की स्थापना करके अपने ही मुख से उसको उत्थाप दे उसके वचन पर कोई विश्वास नहीं करता प्रत्युत लोग उसे धूर्त और धोखेबाज कहते हैं ॥३७–३८॥

जो साधु रे बेहू सरीखा कहे,
　तो लोकां में हो धुर धुर बहु थाय ।
तब मांस धान जुदा कहे,
　झूठा बोला री हो कुण पत्त बंधाय ॥ भ० ॥ ३९ ॥

मांस धान सरीखा कहे,
　साधाँ रे हो केताँ लाजे मूढ ।
एहवो उल्टो पंथ तो जालियो,
　त्याँ रे केड़े हो बूडे कर कर रूढ ॥ भ० ॥ ४० ।

भावार्थः—'धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा बताने वाले कुगुरु अपने मन में यह बात जानते हैं कि यदि हम धान (रोटी) और मांस को साधु के लिए एक सरीखा बतलावेंगे तो लोगों में हमारी निन्दा होगी और लोग धुर धुर कर हमारे ऊपर थूकेंगे। यह सोच कर वे कुगुरु अपने लिये तो धान और मांस को अलग अलग कहते हैं, धान और मांस को एक सरीखा न मान कर उन दोनों में महान् अन्तर डाल देते हैं किन्तु दूसरों को वे यह उपदेश देते हैं कि 'धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनों एक सरीखे हैं।'

उन कुगुरुओं की इस भेद नीति को देख कर लोग समझ जाते हैं कि ये लोग जैसा कहते हैं वैसा करते नहीं। ये लोग कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। ये लोगों को उपदेश कुछ और देते हैं और आप स्वयं आचरण कुछ और करते हैं। ये "धान और मांस को अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा" कहते हैं किन्तु इस बात को ये अपने आचरण में नहीं लाते। इस बात को अपने (साधुओं के) आचरण में लाते हुए लज्जित होते हैं। अतः यह पन्थ उल्टा पन्थ है और लोगों को भ्रम में डालने वाला जाली (धोखेबाज) पन्थ है। जो ऐसे जाली पन्थ के जाल में फँसेगा वह अपने अमूल्य मनुष्य जन्म को व्यर्थ गंवा कर फिर अनन्त काल तक संसार परिभ्रमण करेगा ॥३६-४०॥

मांस न खावे साधुजी,
फासुक पिण हो जाणे नरक री स्थान।
अन्न मांस सरीखो नहीं,
साधु श्रावक हो करे अन्न जल पान ॥ भ० ॥ ४१ ॥

भावार्थः—प्रासुक और अचित्त होने पर भी साधु मांस नहीं खाते बल्कि उसे नरकगमन का कारण जानते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अन्न और मांस दोनों एक सरीखे नहीं हैं। इसीलिए साधु और श्रावक अन्न जल का तो सेवन करते हैं किन्तु मांस का सेवन नहीं करते हैं ॥४१॥

जो श्रावक मांस खावे नहीं,
दूजा ने हो खवावे केम ।
अनुकम्पा उठायवा,
अणहूँतो हो यो घाल्यो वेम ॥ भ० ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जो श्रावक स्वयं मांस नहीं खाता वह दूसरों को अर्थात् जिन पर वह अनुकम्पा करता है उन मनुष्यों को मांस कैसे खिला सकता है ? फिर भी अनुकम्पा द्वेषी कुगुरुओं ने अनुकम्पा उठाने के लिए ऐसे घृणित कुदृष्टान्त दिये हैं जिन्हें सुनने मात्र से किसी भी सहृदय पुरुष को घृणा उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती ॥४२॥

अचित तो बेहू सारखा,
मांस खाधाँ हो होवे संजम री घात ।
अन्न खाधाँ संजम पले,
उत्थप गई हो सातों हेतु री वात ॥ भ० ॥ ४३ ॥

भावार्थः—अन्न (रोटी) और मांस दोनों अचित्त हैं किन्तु मांस खाने से तो संयम का नाश हो जाता है और अन्न (रोटी) खाने से संयम का पालन होता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो

जाता है कि "धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनों एक समान नहीं हैं।" इस बात के सिद्ध हो जाने पर उनके दिये हुए गाजर, मूली आदि के सातों दृष्टान्त असंगत एवं मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं ॥४३॥

ए खोटा दृष्टान्त कुगुरु तणा,
ते दीधा हो मेटण दयाधर्म।
ते समदृष्टि श्रद्धे नहीं,
चौड़े जाणे हो खोटी श्रद्धा रो मर्म ॥ भ० ॥ ४४ ॥

भावार्थः—कुगुरुओं ने उपरोक्त कुदृष्टान्त दयाधर्म को उठाने के लिए दिये हैं। ऐसे खोटे दृष्टान्तों के चक्कर में समदृष्टि पुरुष नहीं फँसता क्योंकि वह तो इस खोटी श्रद्धा के मर्म को भली-भांति जानता है ॥४४॥

जीवाँ री रक्षा जो करे,
मिट जावे हो तेना राग ने द्वेष।
श्रीमुख प्रभु इम भाखियो,
शंका हवे तो हो दसमो अङ्ग देख ॥ भ० ॥ ४५ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान ने अपने श्रीमुख से फरमाया है कि जो पुरुष जीवों की रक्षा करता है उसके राग द्वेष मिट जाते हैं। यदि किसी को इस विषय में शंका हो तो, दसवें अङ्ग श्री प्रश्नव्याकरण-सूत्र में देख सकता है ॥४५॥

रत्न अमोलक देख ने,
मूरख नर हो जाणे तस काच ।
जवेरी मिल्या तेने पारखू,
अमोलक हो तव जाणयो साँच ॥ भ० ॥ ४६ ॥

धर्म है जीव वचावियाँ,
या श्रद्धा हो शुद्ध रतन अमोल ।
कुगुरु काँच सरखो कहे,
न्याय न सूजे जो मिथ्या उदय अतोल ॥ भ० ॥ ४७ ॥

भावार्थः—जो काच और हीरे की परीक्षा नहीं जानता ऐसा मूर्ख पुरुष अमूल्य हीरे को काच का टुकड़ा समझता है किन्तु जब उसे हीरों की परीक्षा करने वाले जौहरी मिलते हैं तब वह उसे अमूल्य हीरा समझता है। फिर इसी प्रकार जीवरक्षा रूप धर्म अमूल्य रत्न है किन्तु कुगुरु उसे काच के टुकड़े के समान निरर्थक समझते हैं क्योंकि उनके महामिथ्यात्व का उदय है इसी से उन्हें न्यायमार्ग दिखाई नहीं देता किन्तु जब उन्हें सतगुरु मिलते हैं तब जीव-रक्षा रूप परम धर्म का माहात्म्य उन्हें समझाते हैं। जो सरल हृदय वाले होते हैं वे तो वास्तविक तत्त्व को समझ कर शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण कर लेते हैं किन्तु जो हठाग्रही होते हैं वे अपने हठ को नहीं छोड़ते। वे अनन्त काल तक संसार-समुद्र में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥४६–४७॥

सत बोल ने जीव बचाय ले,
चोरी तज ने हो परजीव बचाय ।

वलि करे सुकारज एहवो,
जीव बचावे हो व्यभिचार छुड़ाय ॥ भ० ॥ ४८ ॥
धन तज राखे पर प्राण ने,
क्रोधादिक हो अठारा ही त्याग ।
छोड़े छोड़ावे भल जाणने,
परजीवाँ ने हो मरता राखे सुभाग ॥ भ० ॥ ४९ ॥

भावार्थः—दयाधर्मी पुरुष सत्य बोल कर, चोरी छुड़वा कर और व्यभिचार छुड़वा कर तथा इसी प्रकार के और भी सुकार्य करके जीवों की रक्षा करता है। अपने परिग्रह पर से ममत्व उतार कर अर्थात् धन देकर भी वह जीवों की रक्षा करता है। इसी प्रकार अठारह ही पाप छोड़ कर तथा छुड़वा कर और छोड़ने वाले का अनुमोदन कर वह दयाधर्मी पुरुष मरते हुए प्राणियों की प्राणरक्षा करता है ॥४८-४९॥

भूख मरतो हणे पंचेन्दरी,
करुणा कर हो तेने दे समझाय ।
फासुक सूंखड़ी देय ने,
जीवरक्षा हो इणविध पिण थाय ॥ भ० ॥ ५० ॥

भावार्थः—भूख से व्याकुल बना हुआ कोई पुरुष कि पंचेन्द्रिय प्राणी को मार रहा था। किसी दयालु पुरुष ने जीवहिंसा का दुष्परिणाम समझाया और उसे रोटी या आदि अचित्त पदार्थ देकर उसकी भूख मिटा दी। इस प्रकार पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा के पाप से बच गया और उस मरते

प्राणी की प्राणरक्षा हो गई। इस प्रकार दयालु पुरुष मारने वाले और उसके हाथ से मारे जाने वाले दोनों प्राणियों को पाप से बचा लेता है ॥५०॥

माहण माहण उपदेश थी,
बचाया हो परजीवां रा प्राण।
या सत्य वचन आराधना,
जीवरक्षा हो हुई परधान ॥ भ० ॥ ५१ ॥

भावार्थ:—कोई हिंसक किसी जीव को मार रहा हो उस समय उसे 'मा हण मा हण' अर्थात् 'मत मार, मत मार' ऐसा उपदेश देकर उस जीव की रक्षा करना। यह सत्य वचन की आराधना कहलाती है क्योंकि तीर्थङ्कर भगवान् का यह फरमान है कि 'मा हण मा हणं' अर्थात् 'जीवों को मत मारो, मतमारो' अतः 'मत मारो' ऐसा उपदेश देकर जीव-रक्षा करना सत्य वचन की आराधना है। इससे हिंसक हिंसा के पाप से बच जाता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव की प्राणरक्षा हो जाती है। इस प्रकार सत्य वचन की आराधना से दोनों का अर्थात् हिंसक का और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी का दोनों का हित होता है ॥५१॥

चोर लूटे धन पार को,
धन धणी हो मरणे मारण धाय।
समझाय चोरी छोड़ाय दी,
दोनों री हो रक्षा हुई इण न्याय ॥ भ० ॥ ५२ ॥

भावार्थः—कोई चोर दूसरे के धन को चुरा रहा हो उस समय धन का स्वामी उस चोर को मारने के लिए दौड़ता है या चोरी हो जाने पर स्वयं आत्म हत्या करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार चोरी के पाप से चोर और धन के स्वामी दोनों के प्राणनाश की सम्भावना है। दयालु पुरुष चोर को समझा कर चोरी का पाप छुड़वा देता है जिससे चोर की और धन के स्वामी की दोनों की रक्षा हो जाती है ॥५२॥

शील खण्डे एक लम्पटी,
शीलवती हो खण्डण लागी काय।
लम्पट ने समझावियो,
प्राण बचिया हो सती रा धर्म रे साय ॥ भ० ॥ ५३ ॥

भावार्थः—कोई लम्पट पुरुष किसी पतिव्रता सती के शील को खण्डित करने लगा। उस समय अपने शील की रक्षा के लिए वह पतिव्रता सती अपने शरीर का विनाश करने को तय्यार हो गई। उस समय किसी पुरुष ने उस लम्पट को समझा दिया जिससे वह व्यभिचार के पाप से बच गया और उस पतिव्रता सती की प्राण रक्षा हो गई। इस प्रकार लम्पट पुरुष को समझा देने से दोनों का अर्थात् उस लम्पट का और पतिव्रता सती का दोनों का हित होता है ॥५३॥

धन अर्थे हणे एक सेठ ने,
धन धणी हो दीनो परिग्रह त्याग।
प्राण बच्या परिग्रह छुट्यो,
रक्षा हुई हो सत मारग लाग ॥ भ० ॥ ५४ ॥

भावार्थः—धन के लिए कोई किसी सेठ को मार रहा था। उस समय उस सेठ ने परिग्रह (धन) का त्याग कर दिया। इस प्रकार सन्मार्ग को स्वीकार करने से उसका परिग्रह छूट गया और प्राणरक्षा भी हो गई ॥५४॥

क्रोधवशे हणे जीव ने,
क्रोध छोड़ायो हो जीवरक्षा रे नाम।
इम मान मायादी पाप ने,
छोड़ाया हो जीवरक्षा रे काम ॥ भ० ॥ ५५ ॥

याँ सगलाँ में जीवरक्षा हुई,
स्व पर ना हो वली छूटा पाप।
इण भाँति जीव बचाविया
मोह-अनुकम्पा हो कहे अज्ञानी साफ ॥ भ० ॥ ५६ ॥

भावार्थः—कोई क्रोध के वश होकर जीव हिंसा कर रहा हो उसको क्रोध का त्याग करा देने से उसका क्रोध रूपी पाप छूट जाता है और क्रोधवश उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव की रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार मान, माया आदि अठारह ही पापों के लिए समझ लेना चाहिए। इस प्रकार इन अठारहों पापों का त्याग कराने से स्व-पर दोनों का कल्याण होता है अर्थात् पाप का त्याग करने वाला पुरुष तो पाप सेवन से बच जाता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार पाप छुड़ा कर प्राणरक्षा करने को वे भीख मतानुयायी मोह-अनुकम्पा कह कर इसमें पाप बतलाते हैं। य उनकी अज्ञानता है क्योंकि जो दयालु पुरुष इस प्रकार हिंसा पापों का त्याग करा कर मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्ष करता है उसका किसी जीव पर मोह (राग) नहीं है। वह त दोनों जीवों का कल्याण चाहता है इसी से वह हिंसक को हिंस के पाप से बचाता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणं के आर्त्तरौद्र ध्यान को मिटा कर उसकी प्राणरक्षा करता है वह दयालु पुरुष जिस प्रकार हिंसक के हिंसा के पाप को टलात (मिटाता) है उसी प्रकार उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव वे आर्त्तरौद्र ध्यान सम्बन्धी पाप को टलाता (मिटाता) है। इस प्रकार उस दयालु पुरुष के हृदय में उन दोनों जीवों के हित कं भावना है और वह दोनों का हित करता है। उसका किसी एव जीव से मोह (राग) नहीं है। अतः इसे मोह-अनुकम्पा कहना अज्ञानियों का कार्य है ॥५५-५६॥

बिन हिंसा जीव बचावियाँ,
तिण में श्रद्धो हो तुम पाप एकान्त।
सत्यादिक थी छोड़ावियाँ,
सगले ठामे हो थारे पाप रो पन्थ ॥ भ० ॥ ५७ ॥

हिंसा तजी झूठ छोड़ने,
चोरी तज ने हो परजीव बचाय।
मरता राख्या मैथुन तजी,
ते अनुकम्पा हो थारे पाप रे मांय ॥ भ० ॥ ५८ ॥

भावार्थः—जिस कार्य से किसी जीव की हिंसा न हो ऐसा कार्य करके जीव-रक्षा करने में भी वे एकान्त (सर्वथा) पाप मानते हैं। इसी प्रकार सत्य वचन की आराधना से अर्थात् श्री तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञानुसार 'मा हण मा हण' अर्थात् 'मा–मत, हण–मार' ऐसा उपदेश देकर किसी जीव की रक्षा करने में भी वे पाप ही मानते हैं।

इस तरह हिंसा छुड़ा कर, झूठ छुड़ा कर, चोरी छुड़ा कर और व्यभिचार छुड़ा कर तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह ही पाप छुड़ा कर जीव-रक्षा करने में वे एकान्त पाप मानते हैं।

जिस पुरुष को पीलिया रोग हो जाता है उसे समस्त पदार्थ पीले ही पीले दिखाई देते हैं उसी प्रकार इन भीषण मतानुयायियों को अनुकम्पा के समस्त कार्यों में पाप ही पाप दिखाई देता है। सर्वज्ञ भगवान् ही जानते हैं कि उनके किस भव के ऐसे कौन से भीषण पाप उदय में आये हैं जिससे जीव-रक्षा के समस्त कार्यों में अर्थात् अनुकम्पा मात्र में उन्हें पाप ही पाप दिखाई देता है।

भगवान् उन्हें सद्बुद्धि दें ताकि वे जीवरक्षा रूप परम-धर्म को धर्म मानने लगें ॥५७–५८॥

झूठ चोरी व्यभिचार रो *,
नाम लेकर हो तुमे घालो भर्म।

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

जीव मारे झूठ बोलने, चोरी करने हो परजीव बचाय।
वलि करे अकारज एहवो, मरता राखे हो मैथुन सेवाय॥
(अनुकम्पा ढाल ७ गाथा २१)

झूठा हेतु लगाय ने,
छोड़ दीनी यो तुमे लाज रु शर्म ॥ भ० ॥ ५६ ॥

भावार्थः—मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने में झूठ, चोरी और व्यभिचार सेवन आदि का नाम लेकर वे लोग भोले जीवों को भ्रम में डालते हैं। लाज और शर्म को तिलाञ्जलि देकर उन्होंने जीवरक्षा में पाप बताने के लिए ऐसे गन्दे कुहेतु और कुदृष्टान्त दिये हैं जिन्हें सुनने मात्र से लज्जा और घृणा उत्पन्न होती है किन्तु उन लोगों को ऐसे गन्दे कुहेतु और कुदृष्टान्तों का कथन करते हुए और अपने धार्मिक ग्रन्थों में छपवाते हुए उन्हें किञ्चिन्मात्र लज्जा नहीं आई ॥५६॥

जीवदया-द्वेषी कहे,
मरता राखे हो मैथुन सेवाय।
तिण रो उत्तर हिवे साँभलो,
मिट जावे हो वांरी बकवाय ॥ भ० ॥ ६० ॥

भावार्थः—जीवरक्षा के द्वेषी उन लोगों ने एक ऐसा असभ्यता एवं अश्लीलता पूर्ण दृष्टान्त दिया है कि:—"किसी स्त्री ने मारे जाते हुए प्राणी की प्राण रक्षा करने के लिए हिंसक पुरुष के साथ व्यभिचार सेवन कराकर उस प्राणी को छुड़वा दिया। इस प्रकार जीव रक्षा में धर्म कैसे हो सकता है?"

कैसी असभ्यतापूर्ण कुयुक्ति लगा कर यह दृष्टान्त दिया गया है। इस कुदृष्टान्त के आगे तो लज्जा को भी लज्जित हो जाना पड़ता है। यह कुदृष्टान्त किसी दूसरे का भी नहीं है किन्तु तेरहपन्थ सम्प्रदाय के मूल संस्थापक श्रीमान् भीषणजी स्वामी

का स्वयं का कहा हुआ है। इस निर्लज्जतापूर्ण दृष्टान्त का खण्डन उन्हीं के इस दृष्टान्त द्वारा किया जाता है ताकि उनके इस व्यर्थ बकवाद का निराकरण हो जाय ॥ ६० ॥

एक विधवा थारा पन्थ री,
निज पूजजी रा हो दर्शन री चाय।
वीं रा पूज्य रह्या परगाम में,
खरची बिन हो दर्शन नहीं पाय ॥ भ० ॥ ६१ ॥

व्यभिचार थी पैसो जोड़ने,
दर्शन काजे हो आई पूजजी रे पास।
भावना भाई (माल) वेराविया,
कारज निपज्यो हो व्यभिचार थी खास ॥ भ० ॥६२॥

(बीजी) विधवा गरीब उद्यमवती,
घट्टी पीसे हो पैसा जोड़ण काज।
दर्शन कर (आहार) वेराविया,
कारज निपज्यो हो घट्टी रे साज ॥ भ० ॥ ६३ ॥

पहली कुकर्म कीधो आकरो,
दूजी रे हो आरम्भ आश्रव साय।
दर्शन कीधा वेहू जणी,
दान दीधो हो थांने अति हर्षाय ॥ भ० ॥ ६४ ॥

यां में उत्तम अधम कौण है,
अथवा सरीखी हो थारी श्रद्धा रे मांय।
न्याय विचारी ने कहो,
विवेक हो हिरदा रे मांय ॥ भ० ॥ ६५ ॥

भावार्थः—मान लीजिये तेरहपन्थ सम्प्रदाय को मानने वाली एक विधवा स्त्री थी। उसके हृदय में अपने पूज्यजी के दर्शन करने की इच्छा हुई। उस समय उसके पूज्यजी का चातुर्मास किसी दूसरे शहर में था। वहाँ जाने के लिए रेल टिकिट आदि के लिए रुपयों की जरूरत थी किन्तु उसके पास में पैसा न था। तब उसने व्यभिचार-सेवन करा कर, पैसा इकट्ठा कर लिया। फिर दर्शन करने के लिए पूज्यजी के पास गई। वहाँ उसने मिष्टान्न आदि बना कर अपने पूज्यजी की भावना भाई और उन्हें वह मिष्टान्नादि माल बहराया। इस प्रकार उस विधवा के व्यभिचार के पैसे से दर्शन और दान दोनों कार्य उत्पन्न हुए।

तेरह पन्थ सम्प्रदाय को मानने वाली एक दूसरी और विधवा स्त्री थी। उसके हृदय में भी अपने पूज्यजी के दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न हुई किन्तु पास में पैसा न था। तब घट्टी (हाथ चक्की) पीसने का कार्य करके उसने पैसा इकट्ठा किया और फिर दर्शन करने के लिए पूज्यजी के पास गई। वहाँ उसने पूज्यजी की भावना भाई और पूज्यजी को आहार बहराया (दिया)। इस प्रकार इस दूसरी विधवा के साधु दर्शन और दान दोनों कार्य घट्टी पीसने के कारण उत्पन्न हुए।

अब उनके पूज्यजी से पूछना चाहिए कि इन दोनों विधवाओं में कौनसी धार्मिक और कौन पापिनी है ? या दोनों समान

धार्मिक हैं ? यथार्थ न्याय विचार कर तथा हृदय में विवेक रख इस प्रश्न का उत्तर दीजिये ॥६१–६५॥

(कहे) पेली नारी महा पापिणी,
दान दर्शन हो तिण रा लेखा में नाय ।
पन्थ लजायो हम तणो,
कुकर्मी हो धक्का जगत् में खाय ॥ भ० ॥ ६६ ॥
दूजी विवेक गुण भरी,
दर्शन दान रो हो तिण रे धर्म रो धाम ।
घट्टी आरम्भ आश्रव सही,
तिण विना हो तिण रो किम चले काम ॥ भ० ॥६७॥

भावार्थ:—इस प्रश्न के उत्तर में उनके पूज्यजी यह तो कह नहीं सकते कि 'ये दोनों स्त्रियाँ एक समान ही धार्मिक हैं' किन्तु लाचार होकर उन्हें यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने घट्टी पीस कर दर्शन और दान का लाभ लिया है वह स्त्री धार्मिक है। विवेक वाली है। दूसरी विधवा स्त्री जिसने व्यभिचार सेवन करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह हमारे पन्थ को लज्जित करने वाली दुराचारिणी है। साधु के दर्शन से और साधु को दान देने से उत्पन्न होने वाला धर्म उसे नहीं हो सकता। ऐसी दुष्टा स्त्रियों का साधु दर्शन का नाम लेना दम्भ है।

यद्यपि पहली स्त्री ने घट्टी पीसने का आरम्भ रूप आश्रव का सेवन किया है किन्तु वह अल्प पाप है। उसके विना उसका कार्य चल नहीं सकता। किन्तु दूसरी स्त्री महा-पापिनी है। ऐसा कुकर्म करने वाली स्त्री संसार में धक्के खाती है ॥६६–६७॥

यां में उत्तम अधम कौण है,
अथवा सरीखी हो थारी श्रद्धा रे मांय।
न्याय विचारी ने कहो,
विवेक हो हिरदा रे मांय ॥ भ० ॥ ६५ ॥

भावार्थ:—मान लीजिये तेरहपन्थ सम्प्रदाय को मानने वाली एक विधवा स्त्री थी। उसके हृदय में अपने पूज्यजी के दर्शन करने की इच्छा हुई। उस समय उसके पूज्यजी का चातुर्मास किसी दूसरे शहर में था। वहाँ जाने के लिए रेल टिकिट आदि के लिए रुपयों की जरूरत थी किन्तु उसके पास में पैसा न था। तब उसने व्यभिचार सेवन करा कर पैसा इकट्ठा कर लिया। फिर दर्शन करने के लिए पूज्यजी के पास गई। वहाँ उसने मिष्टान्न आदि बना कर अपने पूज्यजी की भावना भाई और उन्हें वह मिष्टान्नादि माल वहराया। इस प्रकार उस विधवा के व्यभिचार के पैसे से दर्शन और दान दोनों कार्य उत्पन्न हुए।

तेरह पन्थ सम्प्रदाय को मानने वाली एक दूसरी और विधवा स्त्री थी। उसके हृदय में भी अपने पूज्यजी के दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न हुई किन्तु पास में पैसा न था। तब घट्टी (हाथ चक्की) पीसने का कार्य करके उसने पैसा इकट्ठा किया और फिर दर्शन करने के लिए पूज्यजी के पास गई। वहाँ उसने पूज्यजी की भावना भाई और पूज्यजी को आहार वहराया (दिया)। इस प्रकार इस दूसरी विधवा के साधु दर्शन और दान दोनों कार्य घट्टी पीसने के कारण उत्पन्न हुए।

अब उनके पूज्यजी से पूछना चाहिए कि इन दोनों विधवाओं में कौनसी धार्मिक और कौन पापिनी है? या दोनों समान

एक क्षण पहले उन लोगों ने जो सिद्धान्त स्थापित किया था कि पाप छुड़ाना धर्म है' दूसरे क्षण में वे अपने इस सिद्धान्त से बदल जाते हैं और कहते हैं कि "पाप छुड़ाना पाप है।" जिस प्रकार मन्दिर पर लगाई हुई ध्वजा एक जगह स्थिर नहीं रहती किन्तु वायु के झोंके से कभी इधर और कभी उधर चलती रहती है उसी प्रकार ये लोग भी अपने सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रहते। कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ। इस प्रकार अपने सिद्धान्त को स्थापित करते हुए और उसे उत्थापते हुए उनको कुछ भी देर नहीं लगती। ऐसे लोग चर्चा करके सत्य तत्त्व को समझने की कभी इच्छा नहीं करते। वे तो अपने दुराग्रह को कभी नहीं छोड़ते। उन्हें जीवरक्षा रूप दयाधर्म से द्वेष है इसलिए जीवरक्षा का प्रश्न आते ही ये अपने सिद्धान्त को भाड़ में फेंक कर 'पाप-पाप' की रट लगाने लगते हैं। उस समय उन्हें अपने सिद्धान्त का कुछ भी भान नहीं रहता। सिद्धान्त जाय चाहे भाड़ में उन्हें तो जीवरक्षा में पाप बताना है ॥७५–७६॥

* सिंह कसाई रो नाम ले,
राख्या रो हो झूठ रचे परपंच
बिन मारयां जीव बचाविया,
पाप श्रद्धे हो मूढ़ कर कर खंच ॥ भ० ॥ ७७ ॥

जैसा कि वे कहते हैं:—

कोई नाहर कसाई ने मारने,
मरता राख्या हो घणा जीव अनेक।
जो गिणे दोयां ने सारखा,
त्यांरी बिगड़ी हो श्रद्धा बात विवेक ॥ २७ ॥

(अनुकंपा ढाल ५ गाथा २७)

प्रकार कसाई का पाप छुड़ाने से धर्म होता है उसी प्रकार उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवों की रक्षा करने से उनका आर्त्तरौद्र ध्यान सम्बन्धी पाप छुड़ाने में भी धर्म होता है, यह बात समान रूप से उन्हें माननी चाहिए ॥७४॥

कहे पाप छोडायां धर्म है,
मरता जीवाँ रा हो आरत (रुद्र) मेटण पाप।
खिण थापे खिण में फिरे,
खोटी श्रद्धा हो यां दीखे साफ ॥ भ० ॥ ७५ ॥

देवल ध्वज तेहनी परे,
फिर जावे हो न रहे एक ठाम।
दयाधर्म उत्थाप ने,
भगड़ो झाल्यो हो नहीं चर्चा री काम ॥भ०॥७६॥

भावार्थ:—उन लोगों ने अपना यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—"किसी जीव का पाप छुड़ाना धर्म है।" इसके लिए उन लोगों ने दृष्टान्त दिया है कि—"कोई कसाई हिंसा कर रहा हो, उसका हिंसा रूपी पाप छुड़ाना धर्म है।"

जब उनसे यह पूछा जाता है कि उस कसाई के हाथ से मारे जाने वाले जीव आर्त्तरौद्र ध्यान कर पाप कर्म बाँधते हैं उनकी रक्षा करके उनका यह पाप छुड़ाना धर्म है या नहीं? तब वे लोग अपने सिद्धान्त से बदल जाते हैं और कहते हैं कि कसाई के हाथ से मारे जाने वाले उन जीवों की रक्षा कर उनका पाप छुड़ाना तो धर्म नहीं, पाप है।

जीवरक्षा करने का दृष्टान्त देना उनका अयुक्त है। उन लोगों को तो 'जीवरक्षा' से ही द्वेष है। इसलिए वे तो जीवरक्षा मात्र में पाप बताते हैं ॥७७॥

जीव बचाया रा देष थी,
  दया उठे हो एवी बोले वाय।
हणता जीव ने रोकतां,
  तिण माहे हो मन्द पाप बताय ॥ भ० ॥ ७८ ॥

भावार्थः—उन लोगों को तो जीवरक्षा मात्र से द्वेष है। इसलिए लोगों के हृदय से दया को उठाने के लिए वे ऐसे खोटे दृष्टान्त देते हैं। किसी कसाई को उपदेश देकर उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव की रक्षा करने में भी वे पाप बताते हैं फिर कसाई को मार कर जीव-रक्षा करने का दृष्टान्त देना अयुक्त है ॥७८॥

पहला संवरद्वार में,
  अमाघाओ दया रो नाम।
वीर प्रभु उपदेशियो,
  श्रेणिक राजादि हो सुणियो सुखधाम ॥ भ० ॥ ७९ ॥

दयाभाव दिल उपज्यो,
  अमाघाए हो घोषणा दी सुणाय।
जीव कोई हणो मती,
  सप्तम अंगे हो मूल पाठ रे मायं ॥ भ० ॥ ८० ॥

भावार्थः—जीवरक्षा में पाप बताने के लिए इन लोगों ने एक दृष्टान्त दिया है और जीवरक्षा में धर्म मानने वालों से उन्होंने प्रश्न किया है। जैसे कि:—

"एक सिंह जंगल में बहुत जीवों को मारता था। उससे मारे जाने वाले जीवों की रक्षा करने के लिए किसी ने उस सिंह को मार दिया तो इस कार्य में धर्म कैसे हुआ? अथवा एक कसाई बकरे आदि बहुत से जीवों को मारता था। उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवों की रक्षा के लिए किसी ने उस कसाई को मार दिया तो बताओ इस कार्य में धर्म कैसे हुआ?"

इस प्रकार सिंह और कसाई को मारने का दृष्टान्त देकर उन लोगों ने भोले जीवों को भ्रम में डालने की चेष्टा की है। जिस कार्य में किसी भी जीव को न मारा जाय अर्थात् किसी भी जीव को बिना मारे ही जीवरक्षा की जाय उसमें भी वे लोग पाप ही मानते हैं तब फिर जीव मार कर जीवरक्षा करने का दृष्टान्त देना अयुक्त है। यह तो सिर्फ भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए उन लोगों ने एक प्रपंच रचा है। उन लोगों से पूछना चाहिए कि—किसी दयालु पुरुष ने उस कसाई को समझा कर उसे हिंसा का त्याग करा दिया और उसके हाथ से मारे जाने वाले बहुत जीवों की रक्षा कर दी। अब बताओ इस प्रकार जीवरक्षा करने में धर्म हुआ या पाप?

उन लोगों के हृदय में तो पाप ही बसा हुआ है। इसलिए वे तो इसमें भी पाप ही बताते हैं। जब कि इस कार्य में किसी को न मारा गया, केवल उपदेश देकर जीवरक्षा की गई उसमें वे लोग पाप ही मानते हैं तब फिर कसाई को मार कर

अर्थात् प्रश्नव्याकरण सूत्र और उपासकदशाङ्ग सूत्र दोनों में 'अमाघाओ' यह एक समान पाठ है जिससे यह स्पष्ट है कि वीर भगवान् ने जो उपदेश दिया था उसे श्रेणिक राजा ने कार्य रूप में परिणत कर दिया। उसने वीर भगवान् के पास 'अमाघाओ' का उपदेश सुना था उस उपदेश को उसने अपने राज्य के सब लोगों को सुना दिया और पड़ह (ढिंढोरा) फिरा दिया कि 'कोई किसी जीव को मत मारो'।

शास्त्रों में जीवरक्षा का यह स्पष्ट पाठ है तब उन लोगों ने सोचा कि अब तो हमारी 'ढोल की पोल' प्रकट हो जायगी। तब वे शास्त्रों के इस पाठ की अवहेलना कर कहने लगे कि—"श्रेणिक राजा ने जो 'अमाघाओ-मत मारो' का पड़ह फिराया था इससे उसे पाप लगा।"

जीवरक्षा के द्वेष में पड़ कर उन लोगों ने इस प्रकार शास्त्रों के कई पाठों की अवहेलना की है और जीवरक्षा में पाप बताने के लिए उन पाठों को तोड़ मरोड़ कर उनका विपरीत अर्थ किया है ॥७६-८२॥

श्रेणिक समदृष्टि हूंतो,
हिंसा रोकी हो सूतर रें मांय।
मा हणो मा हणो प्रभु कहे,
मत मारो हो श्रेणिक दियो सुणाय ॥ भ० ॥ ८३ ॥

हिंसा छुड़ाई रायजी,
मन्दमति हो सुणने दुख पाय।

सप्तम दशम अंग रो,
एक सरीखो हो पाठ सूतर मांय।
जे कारज वीर वरवाणियो,
श्रेणिक नृप हो दियो सब ने सुणाय ॥ म० ॥ ८१ ॥

(निज) श्रद्धा उठती जाण ने,
सूतर रा हो दीना पाठ उठाय।
(कहे) पाप हुवो श्रेणिक भणी,
एवी बोले हो अणहूंती वाय ॥ म० ॥ ८२ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अहिंसा (दया) के साठ नाम फरमाए हैं। उनमें 'अमाघाओ' दया का नाम फरमाया है और उपदेश दिया है कि 'अमाघाओ' अर्थात् किसी भी जीव की घात मत करो, किसी भी जीव को मत मारो'।

भगवान् के इस उपदेश को सुन कर श्रेणिक राजा के हृदय में विशेष दया उत्पन्न हुई। उसने अपने राज्य में 'अमाघाओ' का पड़हा फिरा दिया अर्थात् 'कोई किसी भी जीव को मत मारो' ऐसी उद्घोषणा करवा दी।

यह बात उपासकदशाङ्ग सूत्र के आठवें अध्ययन के मूल पाठ में कही गई है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथमसंवर द्वार में वीर भगवान ने 'अमाघाओ' यह शब्द फरमाया है और उपासक दशाङ्ग सूत्र के आठवें अध्ययन में श्रेणिक राजा के पड़ह फिराने का जो वर्णन आया है वहाँ भी 'अमाघाओ' शब्द है

अर्थात् प्रश्नव्याकरण सूत्र और उपासकदशाङ्ग सूत्र दोनों में 'अमाघाओ' यह एक समान पाठ है जिससे यह स्पष्ट है कि वीर भगवान् ने जो उपदेश दिया था उसे श्रेणिक राजा ने कार्य रूप में परिणत कर दिया। उसने वीर भगवान् के पास 'अमाघाओ' का उपदेश सुना था उस उपदेश को उसने अपने राज्य के सब लोगों को सुना दिया और पड़ह (ढिंढोरा) फिरा दिया कि 'कोई किसी जीव को मत मारो'।

शास्त्रों में जीवरक्षा का यह स्पष्ट पाठ है तब उन लोगों ने सोचा कि अब तो हमारी 'ढोल की पोल' प्रकट हो जायगी। तब वे शास्त्रों के इस पाठ की अवहेलना कर कहने लगे कि— "श्रेणिक राजा ने जो 'अमाघाओ-मत मारो' का पड़ह फिराया था इससे उसे पाप लगा।"

जीवरक्षा के द्वेष में पड़ कर उन लोगों ने इस प्रकार शास्त्रों के कई पाठों की अवहेलना की है और जीवरक्षा में पाप बताने के लिए उन पाठों को तोड़ मरोड़ कर उनका विपरीत अर्थ किया है ॥७६-८२॥

श्रेणिक समदृष्टि हूंतो,
हिंसा रोकी हो सूतर रें मांय।
मा हणो मा हणो प्रभु कहे,
मत मारो हो श्रेणिक दियो सुणाय ॥ भ० ॥ ८३ ॥

हिंसा छुड़ाई रायजी,
मन्दमति हो सुणने दुख पाय।

जीव दया रा द्वेसिया,
ऊंधी मति थी हो दुरगत में जाय ॥म०॥ ८४ ॥

भावार्थ:—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का यह उपदेश है कि 'मा हणो मा हणो' अर्थात् "जीवों को मत मारो, मत मारो।" भगवान् के इस उपदेश को सुन कर श्रेणिक राजा ने अपने राज्य में जीवहिंसा न करने का पड़ह फिरा दिया था कि 'कोई किसी जीव को मत मारो।'

श्रेणिक राजा सम्यग्दृष्टि था। उसने जीवरक्षा का यह महान् कार्य किया था किन्तु जीवरक्षा के द्वेषी लोगों को श्रेणिक का यह कार्य अच्छा न लगा। इसलिए इस परमधर्म के कार्य में पाप बताने की विपरीत बुद्धि उनमें उत्पन्न हुई। यह विपरीत बुद्धि ही सब अनर्थों का मूल है। इसी से जीव दुर्गति में जाते हैं ॥८३-८४॥

मत मारो * आज्ञा राय री,
या भाखी हो सूतर में बात।
पाप कहे श्रेणिक भणी,
ते तो बोले हो चौड़े झूठ मिथ्यात ॥म०॥ ८५ ॥

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

श्रेणिक राय पड़हो फिरावियो,
था तो जाणो हो मोटा राजां री रीत।
भगवन्त न सराह्यो तेहने,
तो किम आवे हो तिण री प्रतीत ॥ १७ ॥
(अनुकम्पा ढाल ७ गाथा १७)

भावार्थः—उपासकदशाङ्ग सूत्र में यह बात मूल पाठ में कही गई है कि—"श्रेणिक राजा ने अपने राज्य में 'अमाघाओ' अर्थात् 'मत मारो' की उद्घोषणा करवाई थी।" जो लोग जीव-रक्षा के एस कार्य से श्रेणिक को पाप होना कहते हैं वे झूठ बोलने वाले एवं मिथ्यात्वी हैं ॥८५॥

'अमारी' धर्म जिन भाषियो,
नृप पाल्यो हो पलायो जग मांय।
तेमां पाप कहे तो पापिया,
भोलां नें हो नाख्या फन्द रे माय ॥ भ० ॥ ८६ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान ने 'अमाघाओ' यानी अमारी—मत मारो' यह धर्म फरमाया है। राजा श्रेणिक ने इस धर्म का पालन स्वयं किया और अपने राज्य में पालन करवाया। इसमें पाप बताने वाले पापी हैं। तीर्थङ्कर भगवान जिस कार्य को धर्म कहें उसमें पाप कहना बुद्धि की विपरीतता है ॥८६॥

(कहे) वीरजी नाय सिखावियो;
पडहो फेरजे हो थारा राज रे मांय।
तो श्रेणिक सीख्यो किण कने,
भ्रम घाले हो कुगुरु मन मांय ॥ भ० ॥ ८७ ॥

आज्ञा न दीनी वीर जी,
उद्घोषणा हो करो राज रे मांय।
तो धर्म श्रेणिक रे किम हुवे
पाप श्रद्धा हो रहे तो मन रे मांय ॥ भ० ॥ ८८ ॥

मोटा मोटा हूँता राजवी,
समदृष्टि हो जिन धर्म रा जाण ।
त्यां हिंसा छोड़ावण कारणे,
नहीं घोषणा हो कीधी सूत्र प्रमाण ॥ भ० ॥ ८६ ॥

भावार्थः—ये लोग कहते हैं कि वीर भगवान् ने राजा श्रेणिक को यह आज्ञा नहीं दी थी कि—"तू अपने राज्य में 'अमाघाओ—मत मारो' का पड़ह फिरवाना।" इसलिए हम (तेरह पन्थी) लोग श्रेणिक राजा के इस कार्य में पाप मानते हैं। दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर के समय में जिनधर्म के ज्ञाता समदृष्टि अनेक बड़े बड़े राजा थे उन लोगों ने अपने राज्य में इस प्रकार 'अमाघाओ—मत मारो' की उद्घोषणा नहीं करवाई थी। सिर्फ श्रेणिक राजा ने यह उद्घोषणा करवाई थी। यदि इस प्रकार की उद्घोषणा में धर्म होता तो दूसरे राजा भी ऐसी उद्घोषणा करवाते। इसलिए हम (तेरहपंथी) लोग श्रेणिक राजा की इस उद्घोषणा में पाप मानते हैं ॥८७-८६॥

(उत्तर) एवी तर्क करे केई मन्दमती,
नहीं सूझे हो फूटा अन्तर नयन ।
जीव बचावण द्वेष थी,
अणहूंता हो मुख काढे वयण ॥ भ० ॥ ६० ॥
न्याय सुणो हिवे भावसूं,
श्रेणिक री हो सूतर में बात ।
निज नौकर बुलाय ने,
आज्ञा दीनी हो इण विध साक्षात ॥ भ० ॥ ६१ ॥

स्थान धणी ने चेताय दो,
जागा दीजो हो वीर प्रभु जब आय।
यो हुक्म राजा श्रेणिक तणो
आज्ञाकारी हो सुणायो जाय ॥ भ० ॥ ६२ ॥

श्रेणिक ने प्रभु ना कह्यो,
घोषणा करजे हो म्हारा स्थान रे काज।
तो पाप हुवो तुम कथन थी,
सेजा रो हो वीर ने दीनो साज ॥ भ० ॥ ६३ ॥

वलि मोटा होता राजवी,
स्थान घोषणा हो नहीं चाली बात।
तो श्रेणिक घोषणा किम करी,
न्याय तोलो हो हिरदे साक्षात् ॥ भ० ॥ ६४ ॥

भावार्थः—श्रेणिक राजा की 'अमावाओ—मत मारो' की उद्घोषणा में पाप बतलाने के लिए उन लोगों ने दो कुयुक्तियाँ दी हैं। (१) पहली यह कि ऐसी उद्घोषणा के लिए वीर भगवान् ने उसे आज्ञा नहीं दी थी। (२) दूसरी यह कि दूसरे राजाओं ने ऐसी उद्घोषणा नहीं करवाई थी।

अब उनकी उपरोक्त दोनों कुयुक्तियों का शास्त्रानुसार खण्डन किया जाता है:—

शास्त्र में श्रेणिक राजा का यह वर्णन आता है कि—राजा श्रेणिक ने अपने नौकर पुरुष को बुला कर यह आज्ञा दी

कि—मेरे राज्य में यह उद्घोषणा करो यानी स्थान मालिकों को यह सूचित कर दो कि "जब भगवान् महावीर स्वामी पधारें, तब उन्हें ठहरने के लिए स्थान देवें।" राजा श्रेणिक की आज्ञानुसार नौकर पुरुष ने यह उद्घोषणा कर दी।

अब उन लोगों से (तेरहपन्थियों से) पूछना चाहिए कि वीर भगवान् ने तो राजा श्रेणिक को यह आज्ञा नहीं दी थी कि "मुझे स्थान देने के लिए तुम उद्घोषणा करवाना।" तथा दूसरे बड़े बड़े राजाओं ने भी इस प्रकार की उद्घोषणा नहीं करवाई थी।" अतः श्रेणिक राजा के 'अमाघाओ—मत मारो' का पाठ फिराने में पाप बतलाने के लिए तुमने जो ये दो युक्तियाँ दी हैं उनके अनुसार वीर भगवान् को स्थान देने की इस उद्घोषणा में भी तुम्हें पाप मानना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि स्थान देने की उद्घोषणा करने से राजा श्रेणिक को पाप लगा और इस उद्घोषणा को सुन कर जिन लोगों ने वीर भगवान को ठहरने के लिए स्थान दिया उनको भी पाप लगा। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान हैं क्योंकि स्थान देने के लिए उद्घोषणा करने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे बड़े बड़े राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी ॥६०–६४॥

श्रीकृष्ण करी उद्घोषणा,
दीक्षा लेवो हो श्री नेम रे पास।
साख कहूँ पिछला तणी,
ज्ञाता में हो यो पाठ है खास ॥ भ० ॥ ६५ ॥

आज्ञा न दीवी श्री नेमजी,
उद्घोषणा हो करो नगरी मंझार।
थारे लेखे पाप हुओ घणो,
दीक्षा दलाली हो नहीं धर्म लिगार ॥ भ० ॥ ९६ ॥

अन्य नृप री चाली नहीं,
उद्घोषणा हो दीक्षा रे सहाय।
इण कारण श्रीकृष्ण ने,
पाप कह्यो हो थारी श्रद्धा रे मांय ॥ भ० ॥ ॥९७ ॥

भावार्थः—ज्ञातासूत्र के पाँचवें अध्ययन में थावच्चापुत्र के अधिकार में यह बात आई है कि श्रीकृष्ण महाराज ने द्वारिका नगरी में यह उद्घोषणा करवाई थी कि—'जिसकी इच्छा हो वह भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षा ले। उसके पीछे रहने वाले कुटुम्बियों की मैं सब तरह सार संभाल एवं सहायता करूँगा।" श्रीकृष्ण महाराज की इस उद्घोषणा को सुन कर अनेक व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की थी।

अब उन लोगों से (तेरहपन्थियों से) पूछना चाहिए कि ऐसी उद्घोषणा करने के लिए श्रीकृष्ण महाराज को भगवान् नेमिनाथ ने ऐसी आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी। अतः राजा श्रेणिक के 'अमाघाओ-मत मारो' का पड़ह फिराने में पाप बतलाने के लिए तुमने जो ये दो युक्तियाँ दी हैं उनके अनुसार श्रीकृष्ण महाराज की इस दीक्षा विषयक उद्घोषणा में भी तुम्हें पाप मानना पड़ेगा और

यह मानना पड़ेगा कि इस दीक्षा दलाली से श्रीकृष्ण महाराज को पाप लगा था। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान हैं क्योंकि जिस प्रकार जीवरक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी उसी प्रकार दीक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए श्रीकृष्ण महाराज को भगवान् नेमिनाथ ने आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी। अतः तुम लोगों को श्रीकृष्ण महाराज की इस दीक्षा दलाली में भी पाप मानना पड़ेगा ॥६५-६७॥

कोणिक भगतो वीर रो,
निन्य प्रते हो, कुशल वात मंगाय।
प्रेम छरी, सुणे भाव सूं,
इण काजे हो देवें नर ने साय ॥ भ० ॥ ६८ ॥

वीरजी नाय सिखावियो,
शुभ वारता हो नित लीजे मंगाय।
प्रभु नाम गोत्र, सुणवा तणा,
पाप लागो हो थारी श्रद्धा रे मांय ॥ भ० ॥ ६९

भावार्थः—राजा कोणिक वीर भगवान् का परम भक्त था। इसलिए उसने ऐसे आदमी नियुक्त कर रखे थे जो रोजाना भगवान् महावीर स्वामी के कुशल क्षेम के समाचार उसको सुना देते थे। राजा कोणिक भगवान् महावीर स्वामी

नाम गोत्र एवं उनके कुशल क्षेम के समाचारों को बड़ी श्रद्धा-भक्ति और प्रेम पूर्वक सुनता था ।

अब उन लोगों से पूछना चाहिए कि इस प्रकार कुशल-क्षेम के समाचार मंगाने के लिए वीर भगवान् ने उसको आज्ञा नहीं दी थी और दूसरे राजा लोग इस प्रकार वीर भगवान् के कुशल क्षेम के समाचार मंगाते थे ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः राजा श्रेणिक की जीवरक्षा विषयक उद्घोषणा में पाप बतलाने के लिए जो ये दो युक्तियाँ दी हैं उनके अनुसार तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि भगवान् महावीर के नाम गोत्र एवं कुशल क्षेम सुनने से राजा कोणिक को पाप लगा था। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान हैं क्योंकि जिस प्रकार जीवरक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्-घोषणा करवाई थी उसी प्रकार नित्य प्रति कुशलवार्ता मंगाने की भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजा लोग ऐसा करते थे। अतः तुम लोगों को यह मानना पड़ेगा कि वीर भग-वान् के नाम गोत्र एवं कुशल वार्ता सुनने से राजा कोणिक को पाप लगा था ॥६८-६९॥

तब तो कुगुरु इण पर कहे,
स्थान घोषणा हो करी श्रेणिक राय ।
दीक्षा घोषणा थी कृष्णजी,
प्रभु वारता हो कोणिकजी मंगाय ॥ भ० ॥ १०० ॥
श्रेणिक अरु श्रीकृष्णजी,
धर्म दलाली हो कीधी शुद्ध भाव ।

यह मानना पड़ेगा कि इस दीक्षा दलाली से श्रीकृष्ण महाराज को पाप लगा था। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान हैं क्योंकि जिस प्रकार जीवरक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी उसी प्रकार दीक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए श्रीकृष्ण महाराज को भगवान् नेमिनाथ ने आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी। अतः तुम लोगों को श्रीकृष्ण महाराज की इस दीक्षा दलाली में भी पाप मानना पड़ेगा ॥६५-६७॥

कोणिक भगतो वीर रो,
निल्य प्रते हो, कुशल वात मंगाय।
प्रेम घरी, सुणे भाव सूं,
इण काजे हो देवे नर ने साय ॥ भ० ॥ ६८ ॥

वीरजी नाय सिखावियो,
मुझ वारता हो नित लीजे मंगाय।
प्रभु नाम गोत्र, सुणवा तणा,
पाप लागो हो थारी श्रद्धा रे मांय ॥ भ० ॥ ६९ ॥

भावार्थः—राजा कोणिक वीर भगवान् का परम भक्त था। इसलिए उसने ऐसे आदमी नियुक्त कर रखे थे जो रोजाना भगवान् महावीर स्वामी के कुशल क्षेम के समाचार लाकर उसको सुना देते थे। राजा कोणिक भगवान् महावीर स्वामी के

नाम गोत्र एवं उनके कुशल क्षेम के समाचारों को बड़ी श्रद्धा-भक्ति और प्रेम पूर्वक सुनता था।

अब उन लोगों से पूछना चाहिए कि इस प्रकार कुशल-क्षेम के समाचार मंगाने के लिए वीर भगवान् ने उसको आज्ञा नहीं दी थी और दूसरे राजा लोग इस प्रकार वीर भगवान् के कुशल क्षेम के समाचार मंगाते थे ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः राजा श्रेणिक की जीवरक्षा विषयक उद्घोषणा में पाप बतलाने के लिए जो ये दो युक्तियाँ दी हैं उनके अनुसार तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि भगवान् महावीर के नाम गोत्र एवं कुशल क्षेम सुनने से राजा कोणिक को पाप लगा था। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान हैं क्योंकि जिस प्रकार जीवरक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्-घोषणा करवाई थी उसी प्रकार नित्य प्रति कुशलवार्ता मंगाने की भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजा लोग ऐसा करते थे। अतः तुम लोगों को यह मानना पड़ेगा कि वीर भग-वान् के नाम गोत्र एवं कुशल वार्ता सुनने से राजा कोणिक को पाप लगा था ॥६८-६६॥

तब तो कुगुरु इण पर कहे,
स्थान घोषणा हो करी श्रेणिक राय।
दीक्षा घोषणा थी कृष्णजी,
प्रभु वारता हो कोणिकजी मंगाय ॥ भ० ॥ १०० ॥
श्रेणिक अरु श्रीकृष्णजी,
धर्म दलाली हो कीधी शुद्ध भाव।

यह मानना पड़ेगा कि इस दीक्षा दलाली से श्रीकृष्ण महाराज को पाप लगा था। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान हैं क्योंकि जिस प्रकार जीवरक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई, थी उसी प्रकार दीक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए श्रीकृष्ण महाराज को भगवान् नेमिनाथ ने आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी। अतः तुम लोगों को श्रीकृष्ण महाराज की इस दीक्षा दलाली में भी पाप मानना पड़ेगा ॥६५-६७॥

कोणिक भगतो वीर रो,
नित्य प्रते हो, कुशल वात मंगाय।
प्रेम धरी, सुणे भाव सूं,
इण काजे हो देवे नर ने साय ॥ भ० ॥ ६८ ॥

वीरजी नाय सिखावियो,
मुझ वारता हो नित लीजे मंगाय।
प्रभु नाम गोत्र, सुणवा तणा,
पाप लागो हो थारी श्रद्धा रे मांय ॥ भ० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—राजा कोणिक वीर भगवान् का परम भक्त था। इसलिए उसने ऐसे आदमी नियुक्त कर रखे थे जो रोजाना भगवान् महावीर स्वामी के कुशल क्षेम के समाचार लाकर उसको सुना देते थे। राजा कोणिक भगवान महावीर स्वामी

वीरजी नाय सिखावियो,
मुझ वार्ता हो नित लीज्यो मंगाय।
वली न जणाई आमना,
ते तो समझो हो निज बुद्धि लगाय ॥ भ० ॥१०६॥

बीजा राजा री चाली नहीं,
उद्घोषण हो स्थान दीक्षा रे काज।
पिण निषेध दीसे नहीं,
कीधी होवे हो जाणे जिनराज ॥ भ० ॥ १०७ ॥

(आज पिण) पत्र भेजण साधु कहे नहीं,
श्रावक भेजे हो वन्दना विविध प्रकार।
वन्दना रो तिण रे लाभ छै,
पत्र प्रेषण हो आरम्भ निरधार ॥ भ० ॥ १०८ ॥

पत्र प्रेषण साधु न सीखवे,
श्रावक भेजे हो निज ज्ञान विचार।
वन्दन भाव तो निर्मला,
साधु रो हो नहीं कहण रो आचार ॥ भ० ॥ १०९ ॥

भावार्थः—तब भीषण मतानुयायी साधु उत्तर देते हैं कि—श्रेणिक राजा ने वीर भगवान् को स्थान देने की घोषणा करवाई थी। यद्यपि इसके लिए वीर भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी क्योंकि उद्घोषणा करने के लिए आने जाने की क्रिया का जो आरम्भ होता है इसके लिए साधु गृहस्थ को आज्ञा नहीं देते

कौणिक भक्ति रस पियो,
धर्म भाव रो हो चित्त में अति चाव ॥ भ० ॥ १०१ ॥

श्रेणिक ने प्रभु नहीं कह्यो,
घोषण कीजे हो म्हारे स्थान रे काम ।
आव जाव कार्य करण रो,
गृहस्थी ने हो केणो वर्ज्यो-श्याम ॥ भ० ॥ १०२ ॥

समदृष्टि निर्मल भाव थी,
स्थान दलाली हो कीधी श्रेणिक राय ।
तिणरे विवेक अति निरमलो,
कारण काज हो समझे मन मांय ॥ भ० ॥ १०३ ॥

उद्घोषण आज्ञा में नहीं,
दीक्षा दलाली हो निर्मल परिणाम ।
धर्म दलाली नीपजी,
समदृष्टि हो करे एहवा काम ॥ भ० ॥ १०४ ॥

नाम गोत्र सुणे साधु रो,
अतिफल कह्यो हो सूत्तर रे माँय ।
कौणिक सुणतो (प्रभु) वारता,
भक्ति रो हो फल मोटो पाय ॥ भ० ॥ १०५ ॥

"आजकल वर्तमान समय में भी यह देखा जाता है कि पत्र चिट्ठी आदि भेजने के लिए साधु गृहस्थ को आज्ञा नहीं देते किन्तु श्रावक लोग अपनी भक्ति को विविध प्रकार से प्रदर्शित करते हुए वन्दना लिख कर पत्र भेजते हैं। उन्हें वन्दना का लाभ तो होता ही है। पत्र भेजने में आरम्भ होता है अतः इसके लिए साधु आज्ञा नहीं देते किन्तु वन्दन भाव को तो निर्मल समझते हैं। जिस प्रकार पत्र भेजने के लिए साधु आज्ञा नहीं देते किन्तु वन्दन भाव को निर्मल समझते हैं और उस श्रावक को वन्दना का लाभ होता है उसी प्रकार स्थान और दीक्षा के लिए उद्-घोषणा करने की साधु आज्ञा नहीं देते किन्तु स्थानदलाली और दीक्षादलाली को वे धर्मदलाली एवं श्रेष्ठ समझते हैं और जो स्थान और दीक्षा की दलाली करता है उसे धर्म का महान् लाभ होता है।"

इस प्रकार वे (तेरह पन्थी साधु) श्रेणिक राजा की स्थान विषयक घोषणा और श्रीकृष्ण महाराज की दीक्षा विषयक घोषणा तथा कोणिक राजा की कुशलवार्ताश्रवण के लिए उत्तर देते हैं ॥१००-१०६॥

इम सूधा ते बोलिया,
तब ज्ञानी हो तेने कहे समझाय।
इण हिज विध तुम श्रद्ध लो,
उद्घोषण हो मत मारया रो न्याय ॥ भ० ॥ ११० ॥

भावार्थः—जब वे लोग उपरोक्त रूप से सरलतापूर्वक सीधा उत्तर देते हैं तब ज्ञानी पुरुष उन्हें समझाते हैं कि "स्थान

हैं किन्तु श्रेणिक राजा समदृष्टि था। उसके परिणाम अति निर्मल थे। वह विवेकवान था। उसने वीर भगवान् को स्थान देने की घोषणा करके स्थान दलाली रूप धर्म का महान् लाभ प्राप्त किया था। आने जाने आदि की क्रिया का आरम्भ होने से उद्घोषणा करवाना आज्ञा में नहीं है किन्तु स्थान दलाली रूप धर्म तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा में है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज ने दीक्षा की उद्घोषणा करवाई थी. उससे उन्हें दीक्षा दलाली रूप धर्म का महान् लाभ प्राप्त हुआ था। विवेकवान् समदृष्टि पुरुष ही ऐसे धर्म के कार्य करते हैं।

साधु का नाम गोत्र आदि श्रवण करने से महान् धर्म लाभ होता है ऐसा शास्त्र में कहा गया है। अतः कोणिक राजा वीर भगवान् के नाम गोत्र एवं कुशल वार्ता प्रति दिन सुनता था इससे उसे महान् धर्म लाभ होता था। गृहस्थ की आने जाने की क्रिया आज्ञा में नहीं है किन्तु साधु का नाम गोत्र श्रवण करना आज्ञा में है। जब सामान्य साधु का नाम गोत्र श्रवण करने से धर्मफल होता है तो वीर भगवान् के नाम गोत्र एवं कुशलवार्ता श्रवण के लाभ का तो कहना क्या? अतः तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीर स्वामी के नाम गोत्र एवं कुशलवार्ता श्रवण से कोणिक राजा को महान् धर्म फल हुआ था।

दूसरे राजाओं ने इस प्रकार की उद्घोषणा आदि कार्य करवाये हों ऐसा उल्लेख यद्यपि शास्त्रों में नहीं पाया जाता है किन्तु इनका निषेध भी नहीं है। इसलिए यदि उन्होंने ऐसे कार्य किये हों तो सर्वज्ञ भगवान् ही जानते हैं। हम उनका निषेध नहीं कर सकते किन्तु इस प्रकार के कार्यों से धर्म दलाली रूप महान् धर्मलाभ होता है ऐसा सर्वज्ञ देव तीर्थङ्कर भगवान् ने स्पष्ट फरमाया है।

-- आजकल वर्तमान समय में भी यह देखा जाता है कि पत्र चिट्ठी आदि भेजने के लिए साधु गृहस्थ को आज्ञा नहीं देते किन्तु श्रावक लोग अपनी भक्ति को विविध प्रकार से प्रदर्शित करते हुए वन्दना लिख कर पत्र भेजते हैं। उन्हें वन्दना का लाभ तो होता ही है। पत्र भेजने में आरम्भ होता है अत: इसके लिए साधु आज्ञा नहीं देते किन्तु वन्दन भाव को तो निर्मल समझते हैं। जिस प्रकार पत्र भेजने के लिए साधु आज्ञा नहीं देते किन्तु वन्दन भाव को निर्मल समझते हैं और उस श्रावक को वन्दना का लाभ होता है उसी प्रकार स्थान और दीक्षा के लिए उद्-घोषणा करने की साधु आज्ञा नहीं देते किन्तु स्थानदलाली और दीक्षादलाली को वे धर्मदलाली एवं श्रेष्ठ समझते हैं और जो स्थान और दीक्षा की दलाली करता है उसे धर्म का महान् लाभ होता है।"

इस प्रकार वे (तेरह पन्थी साधु) श्रेणिक राजा की स्थान विषयक घोषणा और श्रीकृष्ण महाराज की दीक्षा विषयक घोषणा तथा कोणिक राजा की कुशलवार्ताश्रवण के लिए उत्तर देते हैं ॥१०७-१०६॥

इम सूधा ते बोलिया,
तब ज्ञानी हो तेने कहे समझाय।
इण हिज विध तुम श्रद्ध लो,
उद्घोषण हो मत मारया रो न्याय ॥ भ० ॥ ११० ॥

भावार्थ:—जब वे लोग उपरोक्त रूप से सरलतापूर्वक सीधा उत्तर देते हैं तब ज्ञानी पुरुष उन्हें समझाते हैं कि स्थान

और दीक्षा की उद्घोषणा के समान ही 'अमाघाओ-मत मारो' की घोषणा के विषय में समझना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार स्थान और दीक्षा की घोषणा करने के लिए तीर्थङ्कर भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी किन्तु स्थानदलाली और दीक्षादलाली को धर्मदलाली समझते थे उसी प्रकार 'अमाघाओ-मत मारो' की उद्घोषणा करने के लिए तीर्थङ्कर भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी किन्तु जीवरक्षा को वे धर्मदलाली एवं श्रेष्ठ समझते थे ॥११०॥

घोषणा कर प्रभु ना कहे,
पूछयाँ थी हो कदा न देवे ज्वाब ।
स्थान दीक्षा अमरी तणी,
सरखी घोषण हो तुमें समझो सिताब ॥ भ० ॥ १११॥
स्थान, दीक्षा अमरी तणा,
कारज चोखा हो प्रभु दीना बताय ।
समदृष्टि कीना भाव सूं,
धर्म दलाली हो धर्म नो फल पाय ॥ भ० ॥ ११२॥

भावार्थ:—स्थान, दीक्षा और जीवरक्षा के लिए घोषणा करने की तीर्थङ्कर भगवान् आज्ञा नहीं देते और घोषणा करने के लिए पूछने पर कोई उत्तर नहीं देते हैं किन्तु साधु को ठहरने के लिए स्थान दिलवाना, दीक्षा दिलवाना और जीवरक्षा करवाना ये तीनों धर्मदलाली हैं और ये तीनों कार्य श्रेष्ठ हैं ऐसा तीर्थङ्कर प्रभु ने स्पष्ट फरमाया है और विवेकवान् समदृष्टि पुरुषों ने इन तीनों कार्यों को करके धर्मदलाली का महान् लाभ प्राप्त किया है ॥१११-११२॥

'अमाघाओ' नाम दया तणो,
वीर भाख्यो हो प्रथम संवर द्वार ।
ते घोषणा कोणिक करी,
मत मारो हो घोषणा रो सार ॥ भ० ॥ ११३ ॥

पर ने कह्यो स्थान देवजो,
दीक्षा लेवो हो पर ने कह्यो ताम ।
मत मारो तिम पर ने कह्यो,
एक सरीखा हो तीनों ये काम ॥ भ० ॥ ११४ ॥

दो में धर्म केवो तुमें,
तीजा में हो बतावो पाप ।
खोटी श्रद्धा छै तुम भणी,
मिथ्यावादी हो तुमे दीसो छो साफ ॥ भ० ॥ ११५ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में वीर भगवान् ने रक्षा के ६० नाम फरमाये हैं जिनमें 'अमाघाओ' भी एक नाम है अर्थात् दया-जीवरक्षा को अमाघाओ कहते हैं। इसकी घोषणा राजा श्रेणिक ने करवाई और अपने राज्य में सब को यह सूचित किया था कि 'कोई किसी जीव को मत मारो।'

जिस प्रकार स्थान विषयक घोषणा करके राजा श्रेणिक ने दूसरों को यह सूचित किया था कि तुम भगवान् को ठहरने के लिए स्थान दो और श्रीकृष्ण महाराज ने दीक्षा की घोषणा करके दूसरों को यह कहा था कि 'तुम अपनी इच्छानुसार दीक्षा लो'

उसी प्रकार जीवरक्षा की घोषणा कर श्रेणिक राजा ने दूसरों को यह कहा था कि 'तुम किसी जीव को मत मारो।' इस तरह स्थान, दीक्षा और जीवरक्षा ये तीनों कार्य एक समान हैं किन्तु तेरह पन्थी लोग दो कार्यों में अर्थात् स्थान और दीक्षा के कार्यों में धर्म बताते हैं किन्तु तीसरा जो जीवरक्षा का कार्य है उसमें वे पाप बताते हैं यह उनकी पक्षान्धता है, खोटी श्रद्धा है इससे वे स्वतः मिथ्यावादी साबित होते हैं क्योंकि जब स्थान, दीक्षा और जीवरक्षा इन तीनों कार्यों को भगवान् ने एक समान फरमाया है तब उन लोगों को तीनों में एक समान धर्म मानना चाहिए। यदि पूर्व जन्म के पापों के उदय से उन लोगों को सर्वत्र पाप ही पाप दिखाई देता हो और पाप कहने की उनकी कुटेव पड़ गई हो तो फिर उन्हें इन तीनों एक समान कार्यों में एक समान पाप मानना चाहिए किन्तु दो कार्यों में धर्म और तीसरे में पाप कहना मिथ्यावादिता है और इस बात को जाहिर करता है कि जीवरक्षा के साथ उन लोगों को द्वेष है। इसलिए जीवरक्षा का नाम सुनते ही वे पाप पाप की रट लगाने लगते हैं ॥११३-११५॥

(कहे) 'मत मार थी नरक रुकी नहीं'

(तो) स्थान दलाली थी रुकी नहीं केम ?

(यदि कहो) आगे एहना फल पामसी,

(तो) मत मार रा हो तुमें जाणो एम ॥भ०॥ ११६॥

नरक जावा रा नाम थी,

मत मार में हो बताओ पाप ।

तो श्रेणिक भक्ति बहु करी,
थारे लेखे हो ते सगली कलाप ॥ भ० ॥ ११७ ॥

जो भक्ति आदि किया थकी,
तीर्थङ्कर हो होसी श्रेणिक राय ।
(जो) मत मार दलाली धर्म री,
पद तीर्थङ्कर हो अभयदान रे साय ॥ भ० ॥ ११८ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि श्रेणिक राजा ने 'मत मारो' की घोषणा करवाई थी फिर भी उसका नरकगमन तो रुका नहीं तो उन लोगों से पूछना चाहिए श्रेणिक राजा ने स्थान देने की घोषणा करवाई थी उस स्थान दलाली से उसकी नरक क्यों नहीं रुकी ? इस पर यदि वे यह कहें कि नरक का आयुष्य उसका पहले बंध चुका था इसलिए नरकगमन नहीं रुक सका किन्तु स्थान दलाली का फल उन्हें अगले जन्म में मिलेगा तो इसी तरह उन लोगों को सरल बुद्धि से यह भी समझना चाहिए कि 'जीवरक्षा' की दलाली का फल भी उन्हें अगले जन्म में मिलेगा।

यदि कोई हठाग्रही इस बात का हठ करे कि 'मत मारो' की घोषणा करके जीवरक्षा की दलाली करने पर भी श्रेणिक राजा का नरकगमन नहीं रुक सका था इसलिए हम (तेरहपन्थी) जीवरक्षा में पाप बताते हैं तो उन हठाग्रहियों से पूछना चाहिए कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर की भक्ति आदि बहुत की थी फिर भी उसका नरकगमन नहीं रुक सका तो तुम्हारी उपरोक्त मान्यतानुसार तुम्हें भगवान् महावीर स्वामी की भक्ति में भी

पाप मानना पड़ेगा। यदि तुम यह कहो कि राजा श्रेणिक का नरक का आयुष्य बंध चुका था इसलिए उसका नरकगमन नहीं रुक सका किन्तु उसने भगवान् की जो भक्ति आदि की थी वह उसकी व्यर्थ नहीं गई, उस भक्ति के फलस्वरूप वह अगले जन्म में तीर्थङ्कर पद प्राप्त करेगा तो तुम्हें इसी तरह सरलबुद्धि से जीव-रक्षा के विषय में भी यही बात माननी चाहिए कि 'मत मारो' की घोषणा करके श्रेणिक राजा ने जीवों को अभयदान दिलवाया था। अतः इस जीवरक्षा (अभयदान) रूप धर्म दलाली से वे अगले जन्म में तीर्थङ्कर पद प्राप्त करेंगे ॥११६-११८॥

'मत मार' घोषणा राय री,
थें बतावो हो मोटा राजां री रीत * ।
शास्त्र विरुद्ध तुम या कथी,
कुण माने हो थांरी परतीत ॥ भ० ॥ ११९ ॥

तीर्थङ्कर चक्री मोटका,
ज्यां रे नामे हो थां कियो पखपात ।
मत मार घोषणा नहीं करी,
थांरा मुख थी हो उत्थप गई वात ॥ भ० ॥ १२० ॥

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

श्रेणिक राय पड़हो फेरावियो,
ए तो जाणो हो मोटा राजां री रीत ।

(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा ३७)

जो रीत मोटा राजां तणी,
तो चक्री हो पाली नहीं केम।
अनुकम्पा रा द्वेष थी,
नहीं सूझे हो निज बोल्या रो नेम ॥ भ० ॥ १२१ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि श्रेणिक राजा ने 'मत मारो' की जो घोषणा करवाई थी उससे उसे धर्म नहीं हुआ क्योंकि इस प्रकार की घोषणा करवाना यह तो बड़े राजाओं की रीति है। इससे आगे वे लोग यह कहते हैं कि 'मत मारो' ऐसी घोषणा करवाने में धर्म नहीं है क्योंकि ऐसी घोषणा करवाने में धर्म होता तो दूसरे राजा भी ऐसी घोषणा करवाते किन्तु श्रेणिक राजा से पहले बड़े बड़े तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि राजा हो गये हैं किसी ने भी ऐसी घोषणा नहीं करवाई थी।

इनकी ये उपरोक्त दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं क्योंकि एक तरफ तो वे कहते हैं कि ऐसी घोषणा करवाना बड़े राजाओं की रीति है और दूसरी तरफ वे स्वयं कह रहे हैं कि बड़े बड़े तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि राजा हो गये हैं उन्होंने किसी ने ऐसी घोषणा नहीं करवाई। इस प्रकार जिस बात की स्थापना उन्होंने अपने मुख से की थी उसी बात की उत्थापना वे अपने ही मुख से कर रहे हैं अर्थात् अपने कथन का अपने आप ही खण्डन कर रहे हैं। इस प्रकार की घोषणा करवाना यदि बड़े राजा लोगों की रीति होती तो श्रेणिक राजा से पहले जो तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव जैसे बड़े-बड़े राजा हो गये हैं उन्होंने इस रीति का पालन क्यों नहीं किया ? उन्हें भी राजा लोगों की इस रीति का पालन करने के

लिए ऐसी घोषणा करवानी ही पड़ती किन्तु उन लोगों ने (तेरह पन्थियों ने) अपने मुख से ही इस बात को स्वीकार किया है कि किसी भी राजा ने ऐसी घोषणा नहीं करवाई थी। इस प्रकार उन लोगों ने जो यह बात कही थी कि 'ऐसी घोषणा करवाना बड़े राजाओं की रीति है' उसका खण्डन उनके मुख से ही हो गया। जो व्यक्ति अपनी बात का खण्डन अपने ही मुख से करे वह मूर्ख कहलाता है उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता है।

उन लोगों को तो जीवरक्षा से द्वेष है इसलिए जहाँ भी 'जीवरक्षा' का प्रकरण आया है उसमें उन्होंने पाप बतलाने की धृष्टता की है। एक कवि ने कहा है:—

अति रमणीये काव्ये, पिशुनो दूषणमन्वेषयति।
अति रमणीये वपुषि, व्रणमिव मक्षिकानिकरः॥

अर्थात्:—अच्छे रमणीय काव्य में भी छिद्रान्वेषी धूर्त लोग उसी प्रकार दोष को खोजा करते हैं जिस प्रकार बहुत रमणीय शरीर में भी मक्खी केवल घाव ही खोजा करती है।

इसके अनुसार सर्वज्ञों के प्रतिपादित करुणा से भरे हुए शास्त्रों में भी तेरह पन्थी लोग केवल 'पाप ही पाप' खोजा करते हैं। ऐसा करने का कारण या तो उनका स्वभाव ही ऐसा है अथवा उनकी अपने मत के प्रचार की स्वार्थ बुद्धि है। यदि ऐसा न होता तो तेरह पन्थी लोग जीवरक्षा (दया) में पाप सिद्ध करने के लिये महापुरुषों द्वारा सेवित आदर्शों को विकृत बनाने का प्रयत्न क्यों करते ?

जीवरक्षा से उन्हें इतना द्वेष है कि जीवरक्षा में पाप बताने की धृष्टता करते समय उन्हें अपने वचन का भी ध्यान नहीं रहता। वेभान होकर ऊटपटांग बकते हुए अपनी सुधबुध खो बैठते हैं। ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में ऐसे जीव सचमुच दया के पात्र हैं ॥११६-१२१॥

'मत मारो' ने 'दीक्षा' री घोषणा,
राज रीति हो केवल ते नाय।
समदृष्टि राजा तणी,
कृष्ण श्रेणिक हो कीधी सूत्र रे मांय ॥ भ० ॥ १२२ ॥
'दीक्षा' री उद्घोषणा,
कृष्ण छोड़ी हो दूजा राजा री नांय।
(पिण) निषेध नहीं इण बात रो,
करी होसी हो कोई समदृष्टि राय ॥ भ० ॥ १२३ ॥

भावार्थः—'मत मारो' इस प्रकार जीवरक्षा की घोषणा करना और 'दीक्षा' की घोषणा करना यह राजा लोगों की सिर्फ रीति नहीं है किन्तु श्रेणिक राजा और श्रीकृष्ण महाराज इन दोनों विवेकवान समदृष्टि राजाओं ने ऐसी घोषणाएं करवाई हैं जिनका उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। दूसरे राजाओं के विषय में उल्लेख तो नहीं है किन्तु शायद किसी समदृष्टि राजा ने ऐसी घोषणा करवाई हो तो उसके लिए शास्त्रों में निषेध भी नहीं है।

दीक्षा के विषयक घोषणा के लिए तो श्रीकृष्ण महाराज के सिवाय दूसरे राजा का इस विषयक जिक्र ही नहीं है ॥१२२-१२३॥

ब्रह्मदत्त चक्री भणी,
चित्त मुनि हो समझावण आय।
आरज कर्म ने आदरो,
परजा री हो अनुकम्पा लाय ॥ भ० ॥ १२४ ॥

पिण भारी कर्मी राय जी,
जीव रक्षा रो हो नहीं कीनो उपाय।
तुमें अनुकम्पा रा द्वेष थी,
मत मार में हो देवो पाप बताय ॥ भ० ॥ १२५ ॥

भावार्थः—प्रजा हित, परोपकार जीवरक्षा आदि आर्य कर्म करने के विषय में उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्ययन में एक जिक्र आता है। वह इस प्रकार है:—

चित्त मुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को समझाने के लिए उसके पास आये। पहले तो मुनि ने राजा को सांसारिक समस्त बन्धनों को तोड़कर दीक्षा स्वीकार करने के लिए उपदेश दिया किन्तु राजा इसके लिए तैयार नहीं हुआ तब मुनि ने कहा कि हे राजन्! यदि इतना नहीं कर सकते तो प्रजा पर अनुकम्पा करना, जीवरक्षा करना आदि आर्य कर्म को तो ग्रहण करो किन्तु भारीकर्मा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इन आर्य कर्मों को भी ग्रहण नहीं कर सका, अनार्य कर्मों में ही आसक्त बना रहा जिसके फलस्वरूप वह सातवीं नरक को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार अनुकम्पा के उपदेश का जिक्र शास्त्र में मिलता है किन्तु भीषण मतानुयायियों को तो अनुकम्पा से द्वेष है इस

लिए वे श्रेणिक राजा के 'मत मारो' की घोषणा रूप अनुकम्पा (जीवरक्षा) के कार्य में पाप बताते हैं ॥१२४-१२५॥

लाज तजी बके भांड ज्यूँ,
वेश्या रा हो देवे दृष्टान्त कूड ।
कुकर्मी अनुकम्पा किम करे,
तो पिण खोटी हो कुगुरु ताणे रूढ ॥भ०॥ १२६ ॥

भावार्थः—अनुकम्पा से उन्हें कितना भारी द्वेष है यह इसी से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि अनुकम्पा को उठाने के लिए वे लज्जा को तिलाञ्जलि देकर भांड की तरह बकवाद करते हैं और वेश्या के खोटे खोटे दृष्टान्त देते हैं किन्तु मन में इतना नहीं सोचते कि कुकर्मी मनुष्य कुकर्म द्वारा धर्म का कार्य कैसे कर सकता है ? फिर भी वे लोग अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हैं ॥१२६॥

(कहे) दो वेश्या कसाईवाड़े गई,
करता देखी हो जीवों रा संहार ।
दोनों जणी मतो करी,
मरता राख्या हो जीव दोय हजार ॥ भ० ॥ १२७ ॥

एक गहणो देई आपणो,
तिण छोड़ाया हो जीव एक हजार ।
दूजी छोड़ाया इण विधे,
एक दोय सूं हो चौथो आश्रव सेवार ॥ भ० ॥ १२८ ॥

इम कही पूछे साधु ने,
धर्म पाप हो कहो किण ने होय।
जीव बेहू छोड़ाविया,
* संख्या सरखी हो फरक नहीं कोय॥ म०॥१२६॥

भावार्थः—अनुकम्पा में पाप बतलाने के लिए भीषणजी ने एक दृष्टान्त दिया है:—

दो वेश्याएं कसाईखाने में गईं। वहाँ बहुत जीवों का संहार होता देखकर दोनों ने विचार किया और दो हजार जीवों को मरने से बचाया। एक वेश्या ने तो अपना जेवर देकर एक हजार जीव बचाये और दूसरी वेश्या ने कसाईवाड़े में एकसौ कसाइयों से चौथा आश्रव (अब्रह्मचर्य यानी व्यभिचार) सेवन करा कर एक हजार जीव बचाये। इनमें एक वेश्या ने अपने गहने देकर पाँचवें आश्रव (परिग्रह) का सेवन कराया और दूसरी ने चौथा आश्रव (व्यभिचार) का सेवन कराया। इन दोनों के पाप में कोई फर्क नहीं है। अतः यदि धर्म होगा तो दोनों ही को बराबर होगा।

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

एकण सेवायो आश्रव पांचमो,
तो उण दूजी हो चौथो आश्रव सेवाय।
फेर पड्यो तो इण पाप में,
धर्म हुवो हो ते तो सरीखो थाय॥ ५४॥

(अनुकम्पा ढाल ५ गाथा ५४)

इनके कहने का अभिप्राय यह है कि धन देना पाँचवें आश्रव का सेवन कराना है और व्यभिचार कराना चौथे आश्रव का सेवन कराना है। इसलिए यदि धन देकर जीव बचाना धर्म है तो व्यभिचार कराकर जीव बचाना भी धर्म है क्योंकि धन देना पाँचवें आश्रव का सेवन कराना है और व्यभिचार करना चौथे आश्रव का सेवन कराना है। दोनों ही आश्रव हैं। इसलिये चाहे धन देकर जीव छुड़ावे या व्यभिचार करके जीव छुड़ावे दोनों एक ही समान हैं।

जीवरक्षा में पाप बतलाने के लिए उन्होंने कैसी असभ्यता पूर्ण अश्लील युक्ति दी है। इस कुयुक्ति के आगे तो लज्जा को भी लज्जित हो जाना पड़ता है। यह युक्ति किसी दूसरे की भी नहीं किन्तु तेरह पन्थ सम्प्रदाय के मूल संस्थापक श्रीमान् भीषणजी स्वामी की स्वयं की कही हुई है !!

उपरोक्त कुयुक्ति पूर्ण दृष्टान्त देकर वे जीवरक्षा में धर्म मानने वाले साधुओं से पूछते हैं कि दोनों वेश्याओं ने एक-एक हजार जीवों की बराबर रक्षा की है, बतलाओ किसको धर्म हुआ और किसको पाप ? यदि जीवरक्षा करना धर्म है तो दोनों को समान धर्म मानना होगा ॥१२८–१२९॥

(उत्तर) भोलां ने भड़काविया,
दृष्टान्त नी हो रची माया जाल।
करड़ो उत्तर विन दियां,
नहीं कटे हो यांरी जाल कराल ॥ भ० ॥ १३० ॥

काँटा थी काँटो काढ़णो,
ते थी सुणने हो मत करज्यो रीस।

कुहेतु शल्य उधारवा,
करड़ा दृष्टान्त हो देऊं विश्वा वीस ॥ भ० ॥ १३१ ॥

भावार्थः—उपरोक्त दृष्टान्त देकर इन्होंने भोले लोगों को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। इस कठोर प्रश्न का उत्तर भी कठोर दिये विना इनका मायाजाल कट नहीं सकता। जिस प्रकार कांटे से कांटा निकाला जाता है उसी प्रकार इनके कुहेतु रूप कांटे को निकालने के लिए एक कठोर दृष्टान्त दिया जाता है जिसे सुन कर कोई गुस्सा न करें क्योंकि वास्तव में यह दृष्टान्त हमारा नहीं है। ऐसे दृष्टान्तों की उपज तो भीषणजी के मस्तिष्क से ही होती है। अतः उन्हीं के दृष्टान्त में कुछ थोड़ा सा परिवर्तन करके यही दृष्टान्त उनके लिए लागू किया जाता है क्योंकि जो कीचड़ उछालता है वह कीचड़ उसी पर गिरता है। इस कुदृष्टान्त रूप कीचड़ को तय्यार करने वाले एवं उछालने वाले ये हैं इस लिए यह कीचड़ उन्हीं पर गिरे यह स्वाभाविक है ॥१३०-१३१॥

दो बाँया अनुरागण तुम भणी,
पूज्य दर्शण हो गई रेल रे माँय
किण विध आई बायां तुम्हें,
पूज्य पूछयो हो बायां कहे सुणाय ॥ भ० ॥ १३२ ॥

(एक) गहणो वेच्यो म्हें आपणो,
रोक रुपीया हो कीना दर्शन काज।
खरची गाँठे बाँध ने,
तुम दर्शन हो आई महाराज ॥ भ० ॥ १३३ ॥

सेवा करस्यूं थाहरी,
खरची खास्यूं हो थाने वेरास्यूं माल ।
दूजी कहे मुझ साँभलो,
इणविध से हो मैं आई चाल ॥ भ० ॥ १३४ ॥

खरची नहीं थी मुझ कने,
आवण री हो तुम पासे चाय ।
एक दोय सेठ रींझाय ने,
खरची लीधी हो चौथो आश्रव सेवाय ॥ भ० ॥ १३५ ॥

तुम दर्शण खरची कारणे,
चौथो आश्रव हो सेव्यो चित्त चाय ।
खास्यूं ने माल वेरायस्यूं,
इम बोली हो पूज्यभगता चाय ॥ भ० ॥ १३६ ॥

(एक) समदृष्टि सुणियो तिहाँ,
थाँ रा पूज्य ने हो पूछ्यो प्रश्न एक ।
(यामें) धर्मणी पापणी कोण छै,
बतावो हो थाँरी श्रद्धा ने देख ॥ भ० ॥ १३७ ॥

सेव्यो आश्रव एक पाँचमो,
दूजी आई हो चौथो आश्रव सेव ।
दोयाँ रो भेद बताय दो,
आश्रव सरखा हो थारे कैवा रा टेव ॥ भ० ॥ १३८ ॥

भावार्थः—मान लीजिये तेरह पन्थ सम्प्रदाय के पूज्यजी का चतुर्मास किसी शहर में है। उनके पन्थ को मानने वाली दो विधवा स्त्रियों की उनके पूज्यजी के दर्शनार्थ जाकर सेवाभक्ति का लाभ लेने की इच्छा हुई। तब वे दोनों रेल में बैठ कर पूज्यजी के पास पहुँच गई। पूज्यजी उन दोनों की गरीबी हालत जानते थे इसलिए उनसे पूछा कि "तुम दोनों किस प्रकार आई? यहाँ तक आने के लिए खर्च कैसे प्राप्त किया?"

तब उनमें से एक ने कहा कि मैंने अपना गहना बेच कर रुपये प्राप्त कर लिये। उनसे टिकिट खरीद कर यहाँ आई हूँ। कुछ दिन आपकी सेवा करूँगी और आपको आहार पानी बहरा कर दान का लाभ प्राप्त करूँगी।

दूसरी ने कहा-मेरे पास भी खर्च न था किन्तु आपके दर्शन करने की मेरी तीव्र इच्छा थी। तब मैंने एक शेठ को खुश करके उनसे चौथा आश्रव का सेवन करा कर उनसे रुपये प्राप्त कर लिये और इतनी खरची साथ लाई हूँ कि पूरे चार महीने तक मैं आपकी सेवा करूँगी। मिष्टान्नादि माल बना कर स्वयं भी खाऊँगी और आपको भी खूब बहराऊँगी (दान दूँगी)।

वहाँ कोई मध्यस्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक बैठा हुआ था। उपरोक्त दोनों स्त्रियों की बात को सुन कर उसने पूज्यजी से पूछा कि 'इन दोनों स्त्रियों मे कौन धार्मिक और कौन पापिनी है? इन में से एक ने पाँचवें आश्रव (परिग्रह) का सेवन कराया है और दूसरी ने चौथे आश्रव (व्यभिचार) का सेवन कराया है। आपकी मान्यता में चौथे आश्रव का सेवन और पाँचवें आश्रव का सेवन कराना दोनों बराबर हैं। इसलिए आप अपनी मान्यतानुसार इस प्रश्न का उत्तर दीजिये कि इन दोनों में कौन धार्मिक और कौन पापिन हैं या दोनों समान हैं?॥१३८-१३९

सुण घबराया पूज्यजी,
उत्तर देतां हो उठे श्रद्धा री टेक ।
सरीखी कह्यां शोभे नहीं,
लोक निन्दे हो कलंक री रेख ॥ भ० ॥ १३६ ॥

डरता इणविध बोलिया,
गहणो बेची हो कीधा दर्शन सार ।
तिणरी बुद्धि तो निरमली,
तेने हुवो हो धर्म फल अपार ॥ भ० ॥ १४० ॥

बीजी कुलक्षणी नार है,
दर्शन काजे हो चौथो आश्रवद्वार ।
सेव्यो ते महा पापणी,
विकलणी रे हो धर्म नाहीं लिगार ॥भ०॥ १४१ ॥

भावार्थः—उपरोक्त प्रश्न को सुनकर तेरहपन्थी पूज्यजी बड़े विचार में पड़ गये कि अब क्या किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देने से हमारे पन्थ की पोल खुल जाती है। इन दोनों स्त्रियों को समान कहने से तो लोक में निन्दा होती है, सब लोग हमारे पन्थ को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और थू थू करते हैं। तब इस लोकनिन्दा से डरते हुए पूज्यजी ने जवाब दिया कि—जिसने अपना गहना बेच कर हमारे दर्शन किये हैं वह निर्मल बुद्धिवाली एवं विवेक वाली है। उसको धर्मफल हुआ है, वह धार्मिक है और दूसरी स्त्री जिसने हमारे दर्शन के निमित्त चौथे आश्रव

(व्यभिचार) का सेवन कराया है वह कुलटा, दुराचारिणी है। साधु के दर्शन से उत्पन्न होने वाला धर्म उसे नहीं हो सकता। उसे विवेक नहीं है। वह धर्म को लज्जित करने वाली महा पापिणी है ॥१३६-१४१॥

तव बोल्यो तिहां समकिती,
थारी श्रद्धा हो थारे कथने कूड़ ।
आश्रव सेव्या बेहू जणी,
फर्क भाख्यो हो तुमे तज ने रूढ ॥ भं० ॥ १४२ ॥

दर्शन सेवा वांरी सारीखी,
फेर पड्यो हो क्यों थांरे मांय ।
एक धर्मी एक पापिणी,
किम होवे हो थारा मत रे मांय ॥ भं० ॥ १४३ ॥

एक सेव्यो आश्रव पांचमो,
चौथो आश्रव हो दूजी सेवी ने आय ।
फेर पड्यो इण पाप में,
धर्म होसी हो ते तो सरीखो थाय ॥ भं० ॥ १४४ ॥

भावार्थः—यह सुन कर प्रश्नकर्त्ता ने कहा कि "एक ने तो पाँचवें आश्रव का सेवन किया है और दूसरी ने चौथे आश्रव का सेवन किया है फिर इन दोनों को आप एक समान क्यों नहीं मानते ? जिसने पाँचवें आश्रव का सेवन करके आपके दर्शन का लाभ लिया है उसे धार्मिक और चौथे आश्रव का सेवन करके

आपके दर्शन का लाभ उठाने वाली को आप पापिनी क्यों कहते हैं? जीवरक्षा के विषय में दो वेश्याओं का दृष्टान्त देकर आपने यह माना था कि पाँचवें आश्रव का सेवन और चौथे आश्रव का सेवन दोनों एक समान है। अब आपके दर्शन के लिए पांचवां आश्रव और चौथा आश्रव सेवन करने वाली इन दोनों स्त्रियों में भेद क्यों करते हैं? इस प्रकार भेद करने से क्या आपकी पूर्वोक्त मान्यता इस कथन से खण्डित नहीं होती है? असत्य साबित नहीं होती है? इन दोनों स्त्रियों ने आपके मतानुसार समान आश्रव का सेवन किया है और एक समान आपके दर्शन और सेवा का लाभ लिया है। फिर आप इनमें इतना भेद क्यों करते हैं? एक को धार्मिक और दूसरी को पापिणी क्यों मानते हैं? ॥१४२-१४४॥

तब सीधा ते बोलिया,
　दोनां रीं हो मति एक सी नाय।
गहणो बेच्यां व्रत जावे नहीं,
　पाप मोटको हो ते नाय गिणाय ॥ भ० ॥ १४५ ॥

लोभ छोड्यो सिणगार री,
　ममता मारी हो समता दिल धार
(तिथीं) पेली हुवे धर्मात्मा,
　ज्ञान दृष्टि हो इम करणो विचार ॥ भ० ॥ १४६ ॥

दूजी दुरगुण थी भरी,
　दर्शन रा हो भाव किण विध होय।

बात असंभवती दिसे,
दृष्टान्ते हो कदा मानो सोय ॥ भ० ॥ १४७ ॥

तो मति खोटी तेहनी,
कुकर्मिणी हो मोटो कीनो अन्याय।
पाप सेव्यो अति मोटको,
फिट फिट हो हुवे जगत रे माय ॥ भ० ॥ १४८ ॥

लोभ मिट्यो नहीं तेहनो,
तीव्र वधियो हो तिणरे मोह जंजाल।
ते थी पापणी दूजी नार है,
दर्शन रो थोथो आल पंपाल ॥ भ० ॥ १४६ ॥

भावार्थ:--उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में विवश होकर उनके पूज्यजी को यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने साधु-दर्शनार्थ अपना गहना बेचा है उसने शृङ्गार और द्रव्य से अपना ममत्व हटाया है और गहना बेचने से उसके चारित्र में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई है अतः यह धार्मिक है। जिसने व्यभिचार सेवन करकर द्रव्य प्राप्त किया है यह विषयानुरागिणी है धर्मानुरागिणी नहीं। ऐसी विषयानुरागी स्त्री की साधु-दर्शन की इच्छा कैसे हो सकती है? अतः यह असम्भव सी बात है। फिर भी यदि यह माना जाय कि यह तो एक दृष्टान्त दिया गया है तो कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि पापमयी है। वह दुराचारिणी है। इसने महा पाप का कार्य किया है। दुनिया उसे धिक्कारती है। उसका

लोभ छूटा नहीं किन्तु तीव्र मोह जंजाल बढ़ा है। ऐसी दुराचारिणी स्त्रियों की साधुदर्शन का नाम लेना केवल ढोंग है। इस लिए वह स्त्री पापिनी है ॥१४५-१४६॥

न्याय पक्षी तत्र बोलियो,
सेवा री हो थारे दीखे राग।
वे थी सीधा बोलिया,
जीव रक्षा में हो दीनो सत्य ने त्याग॥ भ० ॥ १५० ॥

कथन विचारो तुम तणो,
दो वेश्या रा थां लीनो नाम।
गहणा ने व्यभिचार थी,
जीवरक्षा रो हो त्यां कीधो काम ॥ भ० ॥ १५१ ॥

वेश्या रक्षा किम करे,
अनुकम्पा हो तेने किम होय।
कुकर्मिणी महा पापिणी,
दया द्वेपिणी हो नरक गामिणी सोय ॥ भ० ॥ १५२ ॥

शोचाचारी कागलो,
धनरक्षक हो कहे चोर ने कोय।
पतिव्रता व्यभिचारिणी,
जो भाखे हो नर सोय॥ भ० ॥ १५३ ॥

(तिम) वेश्या दयालु थाप ने,
जीव बचाया हो दोनों रे हाथ ।
लोकां ने भड़कायवा,
अणहोती हो थां थापी बात ॥ भ० ॥ १५४ ॥

भावार्थ:—उनके उपरोक्त उत्तर को सुन कर उस प्रश्नकर्ता मध्यस्थ पुरुष ने उनसे कहा कि दर्शन और सेवा के प्रति आपका अनुराग प्रतीत होता है । इसीलिए आपने दर्शन और सेवा के विषय में पूछे गये प्रश्न का तो सीधा उत्तर दिया है किन्तु जीवरक्षा के विषय में आप इस प्रकार सत्यतापूर्वक सीधा उत्तर नहीं देते । आप अपने कथन को याद कीजिये । आपने दो वेश्याओं का दृष्टान्त दिया था । उसमें अपना गहना देकर जीव बचाने वाली और व्यभिचार सेवन करा कर जीव बचाने वाली दोनों को आपने समान बतलाया था । ये ही दोनों कार्य करके अर्थात् अपना गहना बेच कर और व्यभिचार सेवन करा कर आपके दर्शन और सेवा करने वाली दो स्त्रियों में आप पहली को धार्मिक और दूसरी को पापिनी कहते हो किन्तु जीवरक्षा के विषय में आप इन दोनों को एक समान बताते हो क्या यह आपका अन्याय नहीं है ? आपके दर्शन और सेवा करने वाली उपरोक्त दोनों स्त्रियों के समान जीवरक्षा करने वाली वेश्याओं के विषय में भी आप भेद क्यों नहीं मानते अर्थात् पहली को (गहना देकर जीव बचाने वाली को) धार्मिक और दूसरी को (व्यभिचार सेवन करा कर जीव बचाने वाली को) पापिनी क्यों नहीं मानते ?

सब से पहली बात तो यह है कि व्यभिचार सेवन करा कर जीवरक्षा विषयक वेश्या का दृष्टान्त ही आपका अयुक्त है

क्योंकि कुकर्म करने वाली वेश्या के हृदय में जीवरक्षा के भाव ही कैसे आ सकते हैं ? वह तो कुकर्म करने वाली दयाद्वेपिणी नरकगामिनी है।

यदि कोई व्यक्ति कौवे को 'शौचाचारी' पवित्र आचरण करने वाला, चोर को 'धनरक्षक' और व्यभिचारिणी स्त्री को पतिव्रता कहे तो वह मूर्ख कहलाता है इसी प्रकार कुकर्म में अनुरक्त रहने वाली दयाद्वेपिणी महापापिनी वेश्या को अनुकम्पा करने वाली–जीवरक्षा करने वाली कहने वाला पुरुष भी मूर्ख कहलाता है। यह असंभवित बात है। भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए ऐसा असंभवित दृष्टान्त देकर जीवरक्षा में पाप बताना जीवरक्षा द्वेपियों का कार्य है ॥१५०–१५४॥

(कदा) गणिका हलुकर्मी होवे,
धर्मी जन री हो वा संगत पाय।
छोड़े कुकर्म आपणा,
दया प्रगटे हो वीं रा दिल रे माय ॥ भ० ॥ १५५ ॥

तदा गहणा ममता उतार ने,
बकरा रा हो देवे प्राण बचाय।
आरज कर्म रा साय से,
हिंसक नी हो दीनी हिंसा छोड़ाय ॥ भ० ॥ १५६ ॥

तिण रे विवेक अति निरमलो,
जीव रक्षा हो तिण रे घट मांय।

[illegible]

[illegible] ॥ १४७ ॥

(१) [illegible]

[illegible]

[illegible]

सुध [illegible] अनुकम्पा [illegible] ॥ १४८ ॥

भावार्थ—यदि कदाचित् कोई वेश्या अनुकम्पा से [illegible] पुरुष की हिंसा का प्रसंग मिले तो वह उस की [illegible] के उद्देश से अपने पाप कर्म को छोड़ देती है तब उसके हृदय में दयाधर्म प्रकट हो सकता है और तभी वह अपने गहने पर से ममत्व उतार कर जीवरक्षा रूप परमधर्म का कार्य करती है। ऐसा करने वाली वेश्या हिंसक के पाप छुड़ा देती है और उनके हाथ से मारे जाने वाले जीवों की रक्षा करती है। उसका विवेक अति निर्मल है। उसके हृदय में सच्ची अनुकम्पा है। जीवरक्षा के लिए अपना गहना देकर वह अपने शृङ्गार का मोह त्यागती है और परिग्रह के ममत्व को छोड़ती है। वह अपना गहना देकर साधु-दर्शन करने वाली प्रथम स्त्री के समान धार्मिक है। उस अनुकम्पा के कारण उसे महान् धर्म [illegible] है उसे अनुकम्पा रूप गुण की प्राप्ति हुई है ॥१४८॥

गणिका बकरा बचाविया,
व्यभिचार ने हो सेव्यो रचा रे काज ।
या परतख झूठी बात है,
थांने बोलतां हो नहीं आवे लाज ॥ भ० ॥ १६० ॥

कदा हेतु मानां तुम तणो,
तदा उत्तर हो तुमें समझो एम ।
वेश्या हुवे व्यभिचारिणी,
खोटी मति री हो करणी शुद्ध केम ॥ भ० ॥ १६१ ॥

विपरीत मति थी जे करे,
तेनी करणी हो विपरीत ही जोय ।
तिणरा पक्ष री थापना,
जे करे हो ते मिथ्याती होय ॥ भ० ॥ १६२ ॥

मिथ्यातणी व्यभिचारिणी,
तेनी करणी हो नहीं धर्म रे मांय ।
कर्मबन्ध फल जेहने,
तेनो प्रश्न हो पूछो किण न्याय ॥ भ० ॥ १६३ ॥

हाथी ना स्नान सारखी,
मिथ्यामति री हो करणी शुध नाय ।
अन्य सो पाप उतार ने,
महापाप ने हो ते तो बांधे प्राय ॥ भ० ॥ १६४ ॥

लोभ छोड्यो सिणगार नो,
  धन री तो हो दीनी ममता घटाय ॥ भ० ॥ १५७॥

(ते) प्रथम बाई सम जाणवी,
  धर्म कर्ता हो ते गुण री खाण ।
धर्म लाभ तिण ने हुवो,
  गुण निपज्यो हो अनुकम्पा प्रमाण ॥ भ० ॥ १५८॥

भावार्थः—यदि कदाचित् कोई वेश्या हलुकर्मी हो और धर्मी पुरुष की संगति का सुयोग मिले तो वह उस धर्मी पुरुष उपदेश से अपने पाप कर्म को छोड़ देती है तब उसके हृदय में दयाधर्म प्रकट हो सकता है और तभी वह अपने गहनों पर से ममत्व उतार कर जीवरक्षा रूप परमधर्म का कार्य करती है। ऐसा करने वाली वेश्या हिंसक के पाप छुड़ा देती है और उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवों की रक्षा करती है। उसका विवेक अति निर्मल है। उसके हृदय में सच्ची अनुकम्पा है। जीवरक्षा के लिए अपना गहना देकर वह अपने शृङ्गार का मोह घटाती है और परिग्रह के ममत्व को छोड़ती है। वह अपना गहना देकर साधु-दर्शन करने वाली प्रथम स्त्री के समान धार्मिक है। उस अनुकम्पा के कारण उसे महान् धर्म लाभ हुआ है उसे अनुकम्पा रूप गुण की प्राप्ति हुई है॥१५५-१५८॥

दूजी वेश्या दुष्टणी,
  निश दिन जावे हो व्यभिचार रे मांय।
तिण रे अनुकम्पा किम हुवे,
  अग्नि में हो किम कमल उगाय ॥ भ० ॥ १५९॥

गणिका बकरा बचाविया,
  व्यभिचार ने हो सेव्यो रचा रे काज ।
या परतख झूठी बात है,
  थांने बोलतां हो नहीं आवे लाज ॥ भ० ॥ १६० ॥
कदा हेतु मानां तुम तणो,
  तदा उत्तर हो तुमें समझो एम ।
वेश्या हुवे व्यभिचारिणी,
  खोटी मति री हो करणी शुद्ध केम ॥ भ० ॥ १६१ ॥
विपरीत मति थी जे करे,
  तेनी करणी हो विपरीत ही जोय ।
तिणरा पक्ष री थापना,
  जे करे हो ते मिथ्याती होय ॥ भ० ॥ १६२ ॥
मिथ्यातणी व्यभिचारिणी,
  तेनी करणी हो नहीं धर्म रे मांय ।
कर्मबन्ध फल जेहने,
  तेनो प्रश्न हो पूछो किण न्याय ॥ भ० ॥ १६३ ॥
हाथी ना स्नान सारखी,
  मिथ्यामति री हो करणी शुध नाय ।
अल्प सो पाप उतार ने,
  महापाप ने हो ते तो बांधे प्राय ॥ भ० ॥ १६४ ॥

मिथ्यामति व्यभिचारिणी,
तेनी करणी हो श्रद्धे धर्म रे माय।
ते उत्तर तुमने दिये,
म्हें तो श्रद्धां हो तेने धर्म में नाय॥ भ०॥ १६५॥

भावार्थः—आपने जो दूसरी वेश्या का दृष्टान्त दिया है यह अयुक्त है। सदा व्यभिचार सेवन रूप पाप कर्म में अनुरक्त रहने वाली वेश्या के हृदय में जीवरक्षा रूप अनुकम्पा के भाव कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? क्या कभी अग्नि के अन्दर कमल उग सकता है? अर्थात् नहीं उग सकता। उसी प्रकार कुकर्म में रत रहने वाली वेश्या के हृदय में जीवरक्षा रूप धर्म के भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। किसी वेश्या ने जीवरक्षार्थ व्यभिचार सेवन करा कर जीवों की रक्षा की हो ऐसा आज तक संसार में न देखा गया है और न सुना ही गया है। अतः आपने जीवरक्षार्थ व्यभिचार सेवन कराने वाली वेश्या का जो दृष्टान्त दिया है वह प्रत्यक्ष झूठा है। ऐसा घृणित एवं असभ्यता पूर्ण अश्लील, झूठा दृष्टान्त देते हुए क्या आपको शर्म नहीं आती?

यदि वे यह कहें कि यद्यपि आज तक संसार में ऐसा नहीं सुना गया है कि "किसी वेश्या ने जीवरक्षार्थ व्यभिचार सेवन करा कर जीवों की रक्षा की हो, यह असम्भव बात है तथापि "हमने एक काल्पनिक दृष्टान्त दिया है"; तो उन्हें इस प्रकार के असम्भव काल्पनिक दृष्टान्त का उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए:—सदा व्यभिचार में रत रहने वाली वेश्या की बुद्धि खोटी (मिथ्या) होती है। मिथ्या बुद्धि द्वारा किया गया कार्य भी मिथ्या ही होता है। जिस प्रकार हाथी को स्नान कराने

पर वह फिर अपनी सूंड से धूल, मिट्टी फैंक कर अपने शरीर पर पहले से भी ज्यादा मैल चढ़ा लेता है उसी प्रकार मिथ्यात्वी की क्रिया भी समझनी चाहिए। प्रायः मिथ्यात्वी पुरुष अल्प पाप उतारने के लिए जो क्रिया करता है उससे वह अपने सिर महापाप चढ़ा लेता है। जो क्रिया कर्म बन्ध का कारण है उसके विषय में प्रश्न पूछना ही व्यर्थ है। मिथ्यात्वी व्यभिचारिणी वेश्या की क्रिया धर्म में नहीं है। जिस प्रकार आपके (तेरह पन्थियों के पूज्यजी के) दर्शनार्थ आई हुई उन दोनों स्त्रियों में से अपना गहना बेच कर साधु-दर्शन का लाभ उठाने वाली को धार्मिक और व्यभिचार सेवन करा कर दर्शन का लाभ लेने वाली को आप पापिनी कहते हैं उसी प्रकार अपना जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली वेश्या को धार्मिक और व्यभिचार सेवन करा कर जीवरक्षा करने वाली को पापिनी मानना चाहिए। जिसने अपना गहना देकर जीवरक्षा की है उसने अपने गहने से प्रेम उतार कर किसी सन्त महात्मा के सत्संग से दया में चित्त लगाया है और बुरे कार्य से निवृत्त होकर जीवरक्षा जैसे उत्तम कार्य का सेवन किया है अतः वह धार्मिक है और जिसने जीवरक्षा के बहाने से व्यभिचार का सेवन किया है वह साधु-दर्शनार्थ व्यभिचार सेवन करने वाली स्त्री के समान ही दुरात्मा है परन्तु आप लोग साधु-दर्शनार्थ आई हुई उक्त दोनों स्त्रियों में तो झट भेद बतला देते हैं और जीवरक्षा के विषय में उक्त दोनों स्त्रियों को एक समान ही पापिनी बतलाते हैं इसका क्या कारण है? यह आपका एक दुराग्रह है।

जब कि साधु दर्शनार्थ अपने जेवर से प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक हो सकती है तो जीवरक्षा के लिए अपने जेवर से प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक क्यों नहीं हो सकती? अतः

जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्री को पापिनी कहना जीव-रक्षा द्वेषी पापियों का कार्य समझना चाहिए ॥१५६–१६५॥

वेश्या वेश्या मुख वसी,
लज्जा छोड़ी हो देवे दृष्टान्त कूड़ ।
जीवां री रक्षा उठायवा,
खोटी कथनी री हो मांडी अति रूढ ॥ भ० ॥ १६६ ॥

भावार्थः—मानो उन लोगों के मुख पर वेश्या का ही निवास हो इस तरह से निर्लज्ज होकर अनुकम्पा को उठाने के लिए बारबार वेश्या का खोटा दृष्टान्त देते हैं और अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हैं ।

जो जिसका भक्त होता है उसके मन में वही बसा हुआ रहता है। वह बार बार उसी का नाम लेता है। जैसा कि कहा है:—

ज्यों लोभी के मन धननी लालसा,
भोगी के मन भोग ।
रोगी के मन मानो औषधि,
जोगी के मन जोग ॥

अर्थात्:—जिस प्रकार लोभी के मन सदा धन की लालसा बनी रहती है, भोगी के मन में भोग, रोगी के मन में औषधि और योगी के मन योग बसा रहता है एवं भक्त के मन में भगवान बसा रहता है। तात्पर्य यह है कि जो जिसका उपासक होता है वह उसके मन में बसा रहता है। वह उसी का कथन किया

करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मुख पर 'वेश्या, वेश्या' यह शब्द बसा हुआ है और जो वेश्या का ही कथन करता है वेश्या का ही दृष्टान्त देता है उसे वेश्या भक्त के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ॥१६६॥

(कहे) एक वेश्या सावज कृत कारी,
सहस्र नाणो हो ले बलि घर माय ।
दूजी कर्तव्य करी आपणो,
मरता राख्या हो सहस्र जीव छोड़ाय ॥ भ० ॥ १६७ ॥

धन आएयो खोटा कर्तव्य करी,
तिण रे लाग्या हो दोनों विध कर्म ।
तो दूजी छोड़ाया तेहने,
उणरे लेखे हो हुवो पाप ने धर्म ॥ भ० ॥ १६८ ॥

भावार्थः—वे लोग जीवरक्षा में पाप सिद्ध करने के लिए फिर वेश्या का एक दृष्टान्त देते हैं:—एक वेश्या ने व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों को लेकर अपने घर में रख दिया। दूसरी वेश्या ने इसी तरह व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों से एक हजार जीवों को कसाई के हाथ से छुड़ा कर उनकी रक्षा कर दी।

यह दृष्टान्त देकर वे स्वयं धर्म और पाप की स्थापना करते हैं कि—पहली वेश्या को अर्थात् जिसने व्यभिचार सेवन करा कर रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों को घर में रख दि

उसे तो दोनों प्रकार से पाप कर्म का बन्ध हुआ और यदि जीव-रक्षा करने में धर्म माना जाय तो जीवरक्षा में धर्म मानने वालों को यह मानना पड़ेगा कि दूसरी वेश्या को अर्थात् जिसने व्यभिचार सेवन करा कर रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों से एक हजार जीवों की रक्षा की उसे पाप और धर्म दोनों हुए ॥१६७-१६८॥

एवो खोटो न्याय लगाय ने,
आप मते ही करे खोटी थाप ।
यहु विध पाप पेली कियो,
दूजी रे हो कहो धर्म ने पाप ॥ भ० ॥ १६९ ॥

हीवे कथन हमारो सांभलो,
म्हे नहीं करां हो धर्म पाप री थाप ।
मिथ्या हेतु मिथ्यामति कथे,
तेने उत्तर हो म्हे देवां साफ ॥ भ० ॥ १७० ॥

भावार्थः—उपरोक्त दृष्टान्त देकर ये लोग अपने मत से ही धर्म और पाप की स्थापना करते हैं किन्तु जीवरक्षा में धर्म मानने वाले दयाधर्मी पुरुष कहते हैं कि जिस तरह से उन लोगों ने अपने मन से ही धर्म और पाप की कल्पना की है उस तरह से हम धर्म और पाप की स्थापना नहीं करते हैं। उन लोगों ने खोटा हेतु दिया है उसका उत्तर निम्न प्रकार है ॥१६९-१७०॥

एक नारी कुकर्म सेवने,
सहस्र नाणो हो ला[illegible]

दूजी सेवी व्यभिचार ने,
द्रव्य खरचे हो साधु सेवा रे मांय ॥ भ० ॥ १७१ ॥

धन आण्यो खोटा कृत करी,
तिण रें लाग्या हो दोनों विध कर्म ।
तो दूजी सेवा करी थाँहरी,
थारे लेखे हो हुवो पाप ने धर्म ॥ भ० ॥ १७२ ॥

पाप गिणे व्यभिचार में,
उण री सेवा में हो ते न गिणे धर्म ।
पोते श्रद्धा री खबर पोते नहीं,
दया उठावा हो बाँधे भारी कर्म ॥ भ० ॥ १७३ ॥

इम कह्या जवाब न ऊपजे,
चर्चा में हो अटके ठामो ठाम ।
तो तिण निरणो ना करे,
जीव रक्षा में हो लेवे पाप रो नाम ॥ भ० ॥ १७४ ॥

भावार्थः—उनसे (तेरह पन्थी साधुओं से) पूछना चाहिए कि—जीवरक्षा के विषय में जैसा आपने दृष्टान्त दिया है उसी दृष्टान्त को आप अपनी सेवा के विषय में समझ कर धर्म और पाप की स्थापना कीजिये। जैसे कि—एक स्त्री ने व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों को अपने घर में रख लिया। दूसरी स्त्री ने व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त किये और वह उन रुपयों को आपकी (तेरह

उसे तो दोनों प्रकार से पाप कर्म का बन्ध हुआ और यदि जीव-रक्षा करने में धर्म माना जाय तो जीवरक्षा में धर्म मानने वालों को यह मानना पड़ेगा कि दूसरी वेश्या को अर्थात् जिसने व्यभिचार सेवन करा कर रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों से एक हजार जीवों की रक्षा की उसे पाप और धर्म दोनों हुए ॥१६७-१६८॥

एवो खोटो न्याय लगाय ने,
आप मते ही करें खोटी थाप ।
बहु विध पाप पेली कियो,
दूजी रे हो कहो धर्म ने पाप ॥ भ० ॥ १६६ ॥

हीवे कथन हमारो सांभलो,
म्हें नहीं करां हो धर्म पाप री थाप ।
मिथ्या हेतु मिथ्यामति कथे,
तेने उत्तर हो म्हें देवां साफ ॥ भ० ॥ १७० ॥

भावार्थः—उपरोक्त दृष्टान्त देकर ये लोग अपने मन ही धर्म और पाप की स्थापना करते हैं किन्तु जीवरक्षा में धर्म मानने वाले दयाधर्मी पुरुष कहते हैं कि जिस तरह से उन लोगों ने अपने मन से ही धर्म और पाप की कल्पना की है उस तरह हम धर्म और पाप की स्थापना नहीं करते हैं। उन लोगों ने खोटा हेतु दिया है उसका उत्तर निम्न प्रकार है ॥१६६-१७०॥

एक नारी कुकर्म सेवने,
सहस्र नाणो हो लाई घर मांय ।

ते प्राणांरी घात हिंसा कही,
रक्षा ने दया कही सुखकार ॥ भ० ॥ १७५ ॥

ते रक्षा करे समभाव थी,
समदृष्टि हो संवर गुण पाय ।
मोक्ष मार्ग रक्षा कही,
मोक्ष-अर्थी हो करे अति हर्षाय ॥ भ० ॥ १७६ ॥

भावार्थः—जीव द्रव्य अनादि शाश्वत है उसकी उत्पत्ति और विनाश कभी नहीं होता। उसके प्राण पर्याय है वह बारंबार पलटती रहती है। उन प्राणों की घात करना हिंसा कहलाता है। जैसा कि कहा है:—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,
उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-
स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥

अर्थात्:—पाँच इन्द्रियाँ अर्थात् (१) स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण (२) रसनेन्द्रिय बल प्राण (३) घ्राणेन्द्रिय बल प्राण (४) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण (५) श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण (६) काय बल प्राण (७) वचन बल प्राण (८) मन बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास बल प्राण (१०) आयुष्य बल प्राण। इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का विनाश करना हिंसा है। उन प्राणों की रक्षा करना दया कहलाती है जो कि सब जीवों के लिए सुखकारी है।

पन्थी साधुओं की) सेवा में खर्च करने लगी, खूब मेवा मिष्ठान्न आदि माल आपको वहराने लगी। अब बतलाइये इन दोनों स्त्रियों में एकान्त पाप किसको हुआ ? तथा पाप और धर्म किसको हुआ ? जीवरक्षा के विषय में ऐसा ही दृष्टान्त देकर जैसा न्याय आपने घटाया है उसके अनुसार यहाँ पर भी आपको यह मानना पड़ेगा कि पहली स्त्री को दोनों प्रकार से पाप लगा और दूसरी स्त्री को, जिसने व्यभिचार सेवन करा कर रुपये प्राप्त किये और उनको आपकी सेवा में खर्च कर रही है उसे पाप और धर्म हुआ।

इस पर यदि वे यह कहें कि दूसरी स्त्री को भी पाप ही हुआ। वह व्यभिचारिणी है उसे हमारी (साधुओं की) सेवा से उत्पन्न होने वाला धर्म नहीं हो सकता। उसका साधु-सेवा का नाम लेना बहाना मात्र है।

यही बात उनको जीवरक्षा के विषय में भी समझनी चाहिए किन्तु जीवरक्षा के साथ उनको द्वेष है, इसलिए खोटे हेतु एवं कुयुक्तियाँ लगा कर जीवरक्षा में पाप बतलाने की धृष्टता करते हुए भारी कर्म उपार्जन करते हैं। जीवरक्षा में पाप बतलाने के लिए वे लोग जो हेतु और दृष्टान्त देते हैं उनसे उन्हीं के मत का खण्डन हो जाता है और चर्चा में वे टिक नहीं सकते। स्थान स्थान पर उन्हें अटकना पड़ता है, उनकी जबान बन्द हो जाती है, उन्हें प्रश्न का उत्तर नहीं आता। फिर भी वे अपने दुराग्रह को छोड़ कर सत्य तत्त्व का निर्णय नहीं करते हैं। उनका यह दुराग्रह ही उनको मिथ्यात्वियों की कोटि में पहुँचा देता है ॥१७१-१७४॥

जीव द्रव्य अनादि शासतो,
प्राण प्रजा हो पलटे बारंबार।

अर्थात् शरीर और जिह्वा इन दो इन्द्रिय वाले लट, गंजाइ, गिंडोला, शंख, शीप आदि जीवों में छः प्राण होते हैं—चार पूर्वोक्त तथा रसनेन्द्रिय बल प्राण और वचन बल प्राण। त्रीन्द्रिय अर्थात् शरीर, जिह्वा और नाक इन तीन इन्द्रियों वाले, जूं, लीख, चांचड़, खटमल चींटी आदि जीवों में सात प्राण होते हैं—पूर्वोक्त छः और घ्राणेन्द्रिय बल प्राण। चतुरिन्द्रिय अर्थात् शरीर, जिह्वा, नाक और आँख इन चार इन्द्रियों वाले मक्खी, मच्छर, भौंरा, बिच्छू आदि जीवों में आठ प्राण होते हैं—पूर्वोक्त सात और चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अर्थात् जिन जीवों के मन नहीं होता ऐसे पञ्चेन्द्रिय जीवों में नौ प्राण होते हैं—पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण। संज्ञी पंचेन्द्रिय अर्थात् मन वाले पंचेन्द्रिय गाय, भैंस, मनुष्य आदि जीवों में दस प्राण होते हैं—पूर्वोक्त नौ और मन बल प्राण।

स्थावर जीव और त्रस जीवों में उत्तरोत्तर पुण्यवानी में भी महान् अन्तर है। जैसा कि कहा है:—

एकेन्द्री सूं बेन्द्रीं थयो,
पुण्याई अनन्ती वृद्ध रे जीवा।
सन्नी पञ्चेन्द्री लगे पुण्य
वध्या, अनन्तानन्त प्रसिद्ध रे जीवा॥
विमल जिनेश्वर सेविये॥

अर्थात्—जब पुण्यवानी में अनन्त वृद्धि हुई है तब जीव एकेन्द्रिय से बेइन्द्रिय हो सका है। इस प्रकार जब उत्तरोत्तर पुण्यवानी में अनन्तानन्त गुणा वृद्धि होती गई है तब जीव तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हुआ है।

दृष्टि पुरुष सब जीवों को आत्म तुल्य समझ कर उनकी रक्षा करता है जिससे वह संवर गुण को प्राप्त करता है। रक्षा मोक्ष का मार्ग है। अतः मोक्षार्थी पुरुष अति हर्ष पूर्वक रक्षा धर्म का पालन करता है ॥१७५-१७६॥

पृथ्व्यादिक छहुँ काय नां,
प्राण रक्षा में हो कहे पाप अजाण।
ज्याँ हिंसा रक्षा जाणी नहीं,
खोटी कर रया हो निज मत नी ताण॥ भ०॥ १७७॥

भावार्थः—पृथ्वीकाय अप्काय तेउकाय वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रस काय इन छः काय जीवों की रक्षा में जो पाप कहते हैं वे अज्ञानी हैं। उन्होंने हिंसा और रक्षा के स्वरूप को ही नहीं पहचाना है। अपने मत पक्ष में पड़ कर वे दुराग्रह करते हैं ॥१७७॥

त्रस थावर नहीं सारखा,
ज्यांरा प्राणों में हो कह्यो फरक अपार।
तेथी हिंसा माहीं फरक छै,
स्थूल सूक्ष्म हो सूत्तर निरधार॥ भ०॥ १७८॥

भावार्थः—त्रस जीव और स्थावर जीव एक समान नहीं हैं। इनके प्राणों में बहुत फर्क कहा गया है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पति काय इन पाँच स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों में चार प्राण होते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्‌वास बल प्राण, आयुष्य बल प्राण। द्वीन्द्रिय-

भागी होता है। जिनके हृदय में रक्षा के प्रति द्वेष घुसा हुआ है ऐसे रक्षाद्वेषी लोग इस रक्षा में पाप बतलाते हैं, यह उनकी अज्ञानता है ॥१८०॥

त्रिविध जीव रक्षा करे,
　　परिग्रह री हो ममता ने हटाय।
तेने मोल रा धर्म रो नाम ले,
　　पाप बतावे हो कुबुद्धि चलाय ॥ भ० ॥ १८१ ॥

भावार्थः—जो पुरुष अपने धन से ममत्व उतार कर मन वचन काया पूर्वक जीवों की रक्षा करता है उसमें वे भीषणमतानुयायी लोग पाप बताते हैं और यह कुयुक्ति देते हैं कि धर्म अमूल्य है। रुपया पैसा देने से धर्म नहीं होता क्योंकि रुपया पैसा देने से तो धर्म मोल का हो जाता है ॥१८१॥

ममता उतारयाँ धर्म मोल रो,
　　इम बोले हो तेने पूछणो एम।
वस्त्र ममता परिग्रह गृहस्थ रो,
　　साधु ने दियां हो धर्म होवे केम ॥ भ० ॥ १८२ ॥

भावार्थः—जो लोग यह कहते हैं कि अपने धन-परिग्रह से ममत्व उतारने से धर्म मोल का हो जाता है उन लोगों से यह पूछना चाहिए कि—वस्त्र-कपड़ा गृहस्थ का परिग्रह है जिस वस्त्र को खरीदने वाला १००) रुपैया दे रहा है, उस पर से ममत्व उतार कर यह कपड़ा साधु को देने से धर्म कैसे होगा? क्योंकि तुम्हारा कथन है कि मोल से यानी अपने परिग्रह से ममत्व उतारने से धर्म नहीं होता ॥१८२॥

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव की पुण्यवानी अनन्तानन्त गुणा अधिक है। इसीलिए उनकी हिंसा में भी फर्क है। शास्त्रों में भी स्थूल हिंसा और सूक्ष्म हिंसा इस प्रकार हिंसा के दो भेद कहे गये हैं। हिंसा की तरह रक्षा के भी दो भेद हैं—स्थूल रक्षा और सूक्ष्म रक्षा ॥१७८॥

तिम शक्य अशक्य रा भेद ने,
हिंसा रक्षा में हो समझो चतुर सुजाण।
समुचय नाम बताय ने,
शक्य छोड़ने हो करे अशक्य री ताण ॥ भ० ॥ १७९ ॥

भावार्थः—स्थूल और सूक्ष्म की तरह हिंसा और रक्षा के शक्य और अशक्य ये दो भेद भी समझने चाहिए। शक्य रक्षा वह है जो की जा सकती हो और जो न की जा सकती हो वह अशक्य रक्षा है। शक्य रक्षा को छोड़ कर अशक्य रक्षा की खींचा ताण (दुराग्रह) करना अज्ञानता है ॥१७९॥

थावर रक्षा करी ना सके,
त्रस जीवां री हो करे देई ने साय।
तिण में पाप रो भर्म घुसावियो,
रक्षा रो हो द्वेष घणो घट माय ॥ भ० ॥ १८० ॥

भावार्थः—स्थावर जीवों की रक्षा सूक्ष्म रक्षा है और त्रस जीवों की रक्षा स्थूल रक्षा है। यदि कोई सूक्ष्म रक्षा न कर सकता हो किन्तु किसी पदार्थ की सहायता से स्थूल रक्षा अर्थात् त्रस जीवों की रक्षा करता हो तो वह (उतने अंश में) धर्म का

भावार्थः—भगवती सूत्र के अठारहवें शतक में बतलाया गया है कि परिग्रह और उपधि दोनों भिन्न-भिन्न हैं एक नहीं हैं। जिस पर ममत्व भाव हो वह परिग्रह है। जैसा कि कहा गया है:—

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"

अर्थात्—किसी वस्तु पर मूर्च्छा-ममत्व होना परिग्रह कहा गया है।

जिसके द्वारा किसी जीव का उपकार हो वह उपधि कहलाती है। इससे यह स्पष्ट है कि परिग्रह और उपधि दोनों भिन्न-हैं एक नहीं हैं। जो लोग उपकार के साधनभूत उपधि को और ममत्व रूप परिग्रह को एक कहते हैं वे शास्त्र के वचनों के उत्थापक हैं। उनका कथन शास्त्र विरुद्ध है ॥१८४-१८५॥

दान शीयल तप भावना,
मोक्ष मारग हो चारों सुखकार।
अभयदान भय मेटे कह्यो,
जो देवे हो पावे भव पार ॥ भ० ॥ १८६ ॥

भावार्थः—दान, शील, तप और भाव ये चार मोक्ष के मार्ग कहे गये हैं। इन चारों में दान सर्व प्रथम कहा गया है। दान के दस भेद हैं उनमें अभयदान सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। जैसे कि:—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'

अर्थात्—सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। मृत्यु के भय से भयभीत बने हुए प्राणी के भय को मिटाना अर्थात् उसकी

(कहे) ममता उतार्याँ धर्म है,
अमोलक हो मोल रो नहीं थाय।
तो जीव रक्षा रे कारणे,
धन ममता हो मेटे मोल में नाय ॥ भ० ॥ १८३ ॥

भावार्थ:—इस पर यदि वे लोग यह कहें कि गृहस्थ अपने कपड़े पर से ममत्व उतार साधु को देता है इससे धर्म मोल का नहीं हो जाता क्योंकि वह तो अपने कपड़े पर से ममत्व उतारता है, ममत्व उतारने से धर्म मोल का नहीं हो जाता तो यही बात उन्हें जीवरक्षा के विषय में भी समझनी चाहिए कि जो दयालु पुरुष अपने धन से ममत्व उतार कर जीवरक्षा करता है उससे जीवरक्षा रूप धर्म मोल का नहीं हो जाता। जीवरक्षा के लिए अपने धन से ममत्व उतारना कोई मामूली कार्य नहीं है। यह महान् त्याग का कार्य है। जिसके हृदय में दयाधर्म है वही गृहस्थ अपने धन से ममत्व उतार कर जीवरक्षा का कार्य करता है, निर्दयी नहीं ॥१८३॥

भगवती अठारहवें शतके,
परिग्रह उपधि रो भिन्न भिन्न न एक।
ममता थीं परिग्रह कह्यो,
उपकारे हो उपधि ने लेख ॥ भ० ॥ १८४ ॥
उपकार, ममता एक है,
इम बोले हो कुगुरु निशंक।
सूत्र वचन उत्थाप ने,
मिथ्यात रा हो मारे माठा डंक ॥ भ० ॥ १८५ ॥

❀ दोहा ❀

न हणे हणावे जीव ने, स्वदया कही जिन राय।
औरों री रक्षा करे, ते परदया कहाय ॥ १ ॥

भावार्थः—स्वयं किसी जीव को न मारना और दूसरों से भी न मरवाना तथा मारने वालों की अनुमोदना न करना, इसे तीर्थङ्कर भगवान् ने स्वदया कहा है और मरते हुए प्राणियों की रक्षा करना इसे पर-दया कहा है ॥१॥

न हणे तेने दया कहे, रक्षा ने कहे पाप।
एह वचन कुगुरु तणा, दी पर-दया उत्थाप ॥ २ ॥

भावार्थः—जो लोग 'किसी जीव को न मारना' इसे तो या कहते हैं किन्तु "मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करना" इसे प कहते हैं वे लोग तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के उत्थापक न्हव हैं ॥२॥

स्वदया परदया बिहू कही, ठाणायंग रे माय।
चौथे ठाणे देख लो, मिथ्या तिमिर मिटाय ॥ ३ ॥

भावार्थः—ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में—

"चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता तंजहा—
आयाणुकंपए णाममेगे णो पराणुकंपए ॥"

प्राणरक्षा करना अभयदान है। इस प्रकार प्राणरक्षा रूप अभय-दान का देने वाला पुरुष संसार सागर से पार हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१८६॥

अनुकम्पा अर्थ प्रकाशिनी,
ढाल जोड़ी हो चूरू शहर मंझार।
उगणीसे छियासी तणे,
श्रावण सप्तमी हो सुखदायी वार ॥
भवियण जिनधम ओलखो ॥ १८७ ॥

भावार्थः—संवत् १६८६ श्रावण कृष्णा सप्तमी सोमवार के दिन बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू शहर में यह अनुकम्पा के अर्थ को प्रकाशित करने वाली सातवीं ढाल सम्पूर्ण की गई है ॥१८७॥

॥ इति सातवीं ढाल सम्पूर्ण ॥

❀ दोहा ❀

न हणे हणावे जीव ने, स्वदया कही जिन राय।
औरों री रक्षा करे, ते परदया कहाय ॥ १ ॥

भावार्थ:—स्वयं किसी जीव को न मारना और दूसरों से भी न मरवाना तथा मारने वालों की अनुमोदना न करना, इसे तीर्थङ्कर भगवान् ने स्वदया कहा है और मरते हुए प्राणियों की रक्षा करना इसे पर-दया कहा है ।।१।।

न हणे तेने दया कहे, रक्षा ने कहे पाप ।
एह वचन कुगुरु तणा, दी पर-दया उत्थाप ॥ २ ॥

भावार्थ:—जो लोग 'किसी जीव को न मारना' इसे तो दया कहते हैं किन्तु "मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करना" इसे पाप कहते हैं वे लोग तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा के उत्थापक निन्हव हैं ॥२॥

स्वदया परदया बिहू कही, ठाणायंग रे माय ।
चौथे ठाणे देख लो, मिथ्या तिमिर मिटाय ॥ ३ ॥

भावार्थ:—ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में—

"चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता तंजहा—
आयाणुकंपए णाममेगे णो पराणुकंपए ॥"

अनुकम्पा की इस चौभङ्गी में स्व-अनुकम्प और पर-अनुकम्पा (पर-दया) दोनों कही हैं। दया दोनों में धर्म है। पर-दया में पाप कहना अज्ञान

भेपधारी भर्म्या घणा, मिथ्या उदय वि
भोलां ने भरमाविया, काठ दया री रेप ॥

भावार्थः—कितनेक साधु भेपधारी अज्ञानी मिथ्यात्व के उदय के कारण भ्रम में पड़ गये हैं। भ्रम में पड़ कर तथा दया को तिलाञ्जलि देकर भोले भी भ्रम में डाल दिया है ॥४॥

पर-दया उठावया, पड़पंच रच्या अनेक
सूत्र न्याय सूं खण्डन करूं, सुणज्यो आण विवेक ॥

भावार्थः—उपरोक्त साधु भेषधारी अज्ञानी जीवों दया (पर-अनुकम्पा) को उठाने के लिए अनेक प्रकार के जाल रचे हैं। सूत्र के न्यायानुसार उस माया जाल का ख किया जाता है। अतः विवेक पूर्वक उसका श्रवण करो ॥५

—: ढाल-आठवीं :—

(तर्ज—अनुकम्पा सावज मत जाणो)

द्रव्य लाय में बले जद प्राणी,
आरत ध्यान पावे दुख भारी ।
बिलबिलता रुद्र ध्यान जो ध्यावे,
अनन्त संसार बधे दुखकारी ॥
चतुर धर्म रो निर्णय कीजे ॥ १ ॥

भावार्थः—लाय दो प्रकार की कही गई है—(१) द्रव्य लाय और (२) भाव लाय। अग्नि में जलना द्रव्य लाय है और आर्त्त-रौद्र ध्यान करना भाव लाय है। जब कोई प्राणी द्रव्य लाय (अग्नि) में जलता है तब अत्यन्त दुःख पाता हुआ एवं बिलबिलाहट करता हुआ वह प्राणी आर्त्त-रौद्र ध्यान करता है जिससे उसका दुःखकारी अनन्त संसार बढ़ जाता है ॥१॥

कोई दयावन्त दया दिल धारी,
अग्नि में बलतां ने जो बचावे ।
द्रव्य भाव दया तिण रे हुई,
विवरो सुणो तिण रो शुद्ध भावे ॥ च० ॥ २ ॥

भावार्थः [illegible]ई दयावान् पुरुष अपने हृदय में दया लाकर अग्नि [illegible] णी की रक्षा करता है, उस

को द्रव्य दया और भाव-दया दोनों का लाभ होता है। इसका खुलासा आगे किया जाता है ॥२॥

द्रव्ये तो उणरा प्राण री रक्षा,
भावे खोटा ध्यान घटाया।
यह उपकार इण भव पर भव रो,
विवेक विकल यों भेद न पाया ॥ च० ॥ ३ ॥

द्रव्य आग से बलता राख्या,
भाव आग तिण री टल जावे।
आरत रुद्र ध्यान घट्यां सूं,
शान्ति भाव तिण रे मन आवे ॥ च० ॥ ४ ॥

भावार्थः—लाय (अग्नि) में जलते हुए प्राणी की रक्षा करने से द्रव्य लाय से वह बच गया और उसके प्राणों की रक्षा हो गई, यह तो द्रव्य दया हुई। लाय में जलने से उसके मन में आर्त्त-रौद्र ध्यान पैदा होता वह आर्त्त-रौद्र ध्यान उसका टल गया और उसके हृदय में शान्तिभाव उत्पन्न हो गये, यह भाव-दया हुई। इस तरह लाय में जलते हुए प्राणी की रक्षा करने से इहलौकिक और पारलौकिक दोनों उपकार होते हैं। अज्ञानी लोग इस रहस्य को नहीं समझते हैं। अतएव लाय से बचाने में वे एकान्त पाप कहते हैं ॥३-४॥

समदृष्टि शुद्ध ज्ञान से जाणे,
लाय बले खोटा ध्यान ते ध्यावे।

ते थी अनुकम्पा लाय बचावे,
समकित लक्षण ज्ञानी बतावे ॥ च० ॥ ५ ॥

भावदया तिण रे शुद्ध भावे,
द्रव्य दया थी भाव ते आवे।
ते थी अनुकम्पा जीव बचायां,
पड़त संसार सूत्र बतावे ॥ च० ॥ ६ ॥

भावार्थः—समदृष्टि पुरुष इस बात को जानता है कि जो प्राणी लाय में जलता है वह आर्त्त-रौद्र ध्यान ध्याता है। इसलिए वह अपने हृदय में अनुकम्पा लाकर उस प्राणी की प्राण-रक्षा करता है। इस प्रकार प्राण-रक्षा करना द्रव्य-दया है और उसके हृदय में अनुकंपा के जो पैदा होते हैं वह भाव-दया है। सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये पाँच समकित के लक्षण बताये गये हैं। अतः अनुकम्पा करने वाला पुरुष समकित गुण को प्राप्त करता है और संसार परित्त (परिमित) करता है ऐसा शास्त्रों में बतलाया गया है ॥५-६॥

केइ एक जीव, जीवाँ ने बचायां,
अणलाधो समकित गुण पावे।
पड़त संसार करे तिण अवसर,
अभयदान देवे शुद्ध भावे ॥ च० ॥ ७ ॥

भावार्थः—प्राणियों की प्राणरक्षा करने से कितनेक जीव उस समकित गुण की प्राप्ति करते हैं जिसकी आज तक उस जीव

को प्राप्ति न हुई थी और उसी समय वह प्राण-रक्षा कर अभय-दान का दाता पुरुष संसार परिमित करता है ॥७॥

दव बलता जीव शरणे आया,
हाथी अनुकम्पा दिल लायो।
संसार पड़त अरु समकित पायो,
ज्ञाता सूत्र में पाठ बतायो ॥ च० ॥ ८ ॥

भावार्थ:—ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्ययन में मेघकुमार का वर्णन आता है। जब मेघकुमार का जीव हाथी के भव में था उस समय जंगल में आग लग जाने से बहुत से प्राणी भाग कर उसके बनाये हुए मांडले में आये थे। हाथी ने उन पर अनुकम्पा की थी जिससे उसे समकित गुण की प्राप्ति हुई और उसने संसार परिमित किया। यह अनुकम्पा का फल है ॥८॥

शून्य चित्त सूत्र बांचे मिथ्याती,
द्रव्य भाव रो नाहीं निवेरो।
दयाहीन कुपन्थ चलायो,
त्यां कुगति सन्मुख दियो डेरो ॥ च० ॥ ९ ॥

भावार्थ:—मिथ्यात्वी लोग शून्यचित्त से सूत्रों का वाचन करते हैं अतएव द्रव्य और भाव के रहस्य को ही वे नहीं समझते हैं और इसीलिए अनुकम्पा रूप परमधर्म को पाप बताते हैं, दया-हीन निर्दयी लोगों ने यह कुपन्थ चलाया है। समझना चाहिए उन्होंने सुगति से मुँह मोड़ कर दुर्गति की ओर कर दिया है ॥९॥

स्वारथ त्यागी पर उपकारी,
दुखी दर्दी रो दर्द मिटावे ।
ते पिण माठा ध्यान मिटावण,
तिण में पाप मिथ्याती बतावे ॥ च० ॥ १० ॥

भावार्थः—कोई स्वार्थत्यागी (निःस्वार्थी) परोपकारी पुरुष किसी दुःखी दर्दी प्राणी पर अनुकम्पा लाकर उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान मिटाने के लिए उसके दुःख दर्द को मिटाता है। इस परोपकार के कार्य में जो पाप बताता है वह मिथ्यात्वी है ॥१०॥

(कहे) "साधु गृहस्थ औषध देने,
दुख आरत तिण रो न मिटावे ।
तेथी पाप म्हें गृहस्थ ने केवाँ,
साधु न करे ते पाप में आवे" ॥ च० ॥ ११ ॥

भावार्थः—वे तेरहपन्थी लोग कहते हैं कि साधु दुःखी दर्दी गृहस्थ को देख कर उसे औषधि देकर उसके दुःख दर्द को नहीं मिटाते हैं। यदि दुःख दर्द मिटाना धर्म होता तो साधु गृहस्थ को औषधि देकर उसके दुख दर्द क्यों नहीं मिटाता। इस लिए हम लोगों ने यह स्थापना की है कि जो कार्य साधु नहीं करते वह कार्य पाप का है ॥११॥

(उत्तर) चौमासे उत्पत्ति जीवों री जाणी,
गामानुगाम विहार न करणो ।
त्रिविधे साधु त्याग ज कीधा,
सूत्र में साधु ने बतायो निरणो ॥ च० ॥ १२ ॥

साधु न करे ते पाप में गावो,
तो चोमासे साधु ने आणो न जाणो।
गेही चौमासा में वन्दन जावे,
तिण में एकान्त पाप बताणो ॥ च० ॥ १३ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है कि चतुर्मास में अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है अतः साधु को ग्रामानुग्राम विहार न करना चाहिए। इसलिए साधु चतुर्मास में विहार करने का तीन करण तीन योग से त्याग कर देता है।

अब उन (तेरहपन्थी) लोगों से पूछना चाहिए कि—आप लोगों ने यह स्थापना की थी कि जो कार्य साधु नहीं करता वह एकान्त पाप है तो चतुर्मास में साधु एक गाँव से दूसरे गाँव आना जाना नहीं करता किन्तु तुम्हारे भक्त श्रावक चतुर्मास में तुम्हारे (तेरहपन्थी साधुओं के) दर्शन के लिए आते जाते हैं तो उनके साधु-दर्शन को एकान्त पाप में क्यों नहीं कहते ? तुम्हारी उपरोक्त मान्यतानुसार तो उनके वन्दन, दर्शन को एकान्त पाप में कहना चाहिए ॥१२—१३॥

वन्दण का तो वन्धा करावे,
चौमासे सेवा रा भाव चढ़ावे।
पन्थी पन्थ वधावण कारण,
धर्म कही कही ने ललचावे ॥ च० ॥ १४ ॥

भावार्थः—वे लोग उनके वन्दन और दर्शन को पाप में नहीं कहते किन्तु अपने पन्थ को बढ़ाने के लिए वन्दन और दर्शन

को धर्म में कह कर चतुर्मास में दर्शन करने और सेवा करने का अपने भक्त श्रावकों को नियम करवाते हैं ॥१४॥

जो साधु न करे ते पाप में आवे,
तो गृहस्थ ने पाप थें क्यों न बतावो।
चौमासे दर्शन अर्थे न जाणो,
इणविध त्याग क्यों न करावो ॥ च० ॥ १५ ॥

भावार्थः—उनसे पूछना चाहिए कि, तुमने यह स्थापना की थी कि 'जो कार्य साधु नहीं करता है वह पाप में है, गृहस्थ को भी वह कार्य न करना चाहिए' तो तुम्हारे भक्त श्रावक चतुर्मास में तुम्हारे दर्शन के लिए आते हैं उसमें पाप क्यों नहीं कहते? और चतुर्मास में कहीं भी दर्शन के लिए न जाना इस प्रकार उन्हें नियम क्यों नहीं करवाते? ॥१५॥

राते बखाण सुणावण काजे,
आंतरो पाडण त्याग करावो।
वर्षते पाणी वह सुणवा ने आवे,
तिण सुणवा में धर्म बतावो ॥ च० ॥ १६ ॥

गेही रो आणो जाणो सावज,
त्रिविध त्रिविध भलो नहीं जाणो।
तो बखाणादिक ने पाप में केणा,
आया बिना किम सुणे बखाणो ॥ च० ॥ १७ ॥

जो वखाणादिक सुणवा में धर्म है,
आवा जावा रो साधु न केवे।
तो आरत ध्यान मेटण में धर्म है,
औषधादिक साधु नहीं देवे ॥ च० ॥ १८ ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी साधु रात्रि में व्याख्यान बांचते हैं। उस व्याख्यान को सुनने के लिए वे अपने भक्त श्रावकों को ऐसा नियम करवाते हैं कि "अन्तर डाले बिना अर्थात् किसी भी दिन अनुपस्थित न रहते हुए सदा उनका रात्रि व्याख्यान सुनना चाहिए" उस नियम से बंधे हुए उनके भक्त श्रावक वर्षा बरस रही हो उसमें भी वे व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं। उनके आने जाने की क्रिया को वे पाप में गिनते हैं और यहाँ तक कि तीन करण तीन योग से उसका अनुमोदन नहीं करते हैं। आने जाने की क्रिया किये बिना वे उनका व्याख्यान सुन नहीं सकते। अतः उनके व्याख्यान श्रवण को पाप में कहना चाहिए।

इस पर यदि वे (तेरह पन्थी साधु) यह कहें कि—उनके आने जाने की क्रिया तो पाप में है और उस आने जाने की क्रिया के लिए हम (साधु) नहीं कहते हैं किन्तु उनका व्याख्यान-श्रवण तो धर्म में है तो उन लोगों से कहना चाहिए कि सरल बुद्धि से अनुकम्पा के विषय में भी तुम्हें यही बात माननी चाहिए कि दुःख दर्द से पीड़ित होकर आर्त्त रौद्र ध्यान करते हुए प्राणी के आर्त्त रौद्र ध्यान को मिटाना धर्म है किन्तु साधु का कल्प न होने से साधु उसे औषधि आदि नहीं दे सकते हैं ॥१६–१८॥

वाहण चढ वखाण में आवे,
औषधादि देई आरत मिटावे।

दोनों कारज सरीखा जाणो,
शुद्ध भावों रो ये हु फल पावे ॥ च० ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार घोड़ा गाड़ी आदि सवारी पर चढ़ कर गृहस्थ साधु का व्याख्यान सुनने के लिए आता है तो उसके आने जाने की क्रिया तो धर्म में नहीं है किन्तु व्याख्यान श्रवण रूप शुद्ध भाव धर्म में है उसी प्रकार दुःख दर्द से आर्त्त-रौद्र ध्यान करते हुए प्राणी पर अनुकम्पा कर औषधादि देकर उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान को मिटाने रूप शुद्ध भाव धर्म में हैं। ये दोनों कार्य एक सरीखे हैं। इन दोनों में होने वाले शुद्ध भाव धर्म में हैं ॥१६॥

एक में भाव रो धर्म बतावे,
बीजा में पाप री बोले वाणी।
भोलां ने भ्रम में पाड़ विगोया,
ते पिण डूबे छै कर कर ताणी ॥ च० ॥ २० ॥

भावार्थः—पहले कार्य में अर्थात् व्याख्यान सुनने के कार्य में उसके भावों का धर्म बताना और दूसरे कार्य में अर्थात् अनुकम्पा के कार्य में उसके भावों में पाप बताना मत पक्षान्धता है। मत पक्ष का दुराग्रह करके आप स्वयं संसार समुद्र में डूबते हैं और भोले लोगों को भ्रम में डाल कर उन्हें भी संसार सागर में डुबाते हैं ॥२०॥

(कहे) "उपदेश देइ म्हें हिंसा छुड़ावां,
आहार छोड़ी उपदेश ने जावां।

कोस आंतरे हिंसा छूटे तो,
आलस छोड़ म्हें तुर्त ही धावां" ॥ च० ॥ २१ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि हम उपदेश देकर हिंसक की हिंसा छुड़ाते हैं। यदि हम आहार कर रहे हों उस समय भी यदि हिंसा छुड़ाने का कार्य आ जाय तो हम आहार छोड़कर हिंसा छुड़ाने के लिए चले जाते हैं और यहाँ तक कि एक कोस की दूरी पर भी हिंसा छूटती हो तो हम आलस्य छोड़ कर वहाँ भी तुरन्त चले जाते हैं ॥२१॥

(उत्तर) धर्मी नाम धरावण काजे,
भोला जाणे दया गुण खाणी।
हिंसा छुड़ावां मुख से बोले,
पिण काम पड्यां बोले फिरती वाणी ॥ च० ॥ २२ ॥

भावार्थः—धर्मी नाम धराने के लिए तथा भोले लोगों को यह बतलाने के लिए कि 'हम बड़े दयाधर्मी हैं' वे अपने मुख से कहते हैं कि हम हिंसा छुड़ाते हैं किन्तु हिंसा छुड़ाने का कार्य जब सामने आता है तो वे अपने वचन से बदल जाते हैं और इससे विपरीत कथन करने लग जाते हैं ॥२२॥

कीडियाँ माखा लट गजायाँ,
गेही रे पग हेटे चींथ्या जावे।
भेषधारी कहे म्हें हिंसा छोड़ावां,
(तो) उपदेश देवा ने क्यों नहीं जावे ॥ च० ॥ २३ ॥

ठोड़ बैठा उपदेश देवे तो,
दस वीस जीवां ने दोरा समझावे ।
उद्यम करे चार महीनों रे माहीं,
तो लाखों जीवों रीं हिंसा टलावे ॥ च० ॥ २४ ॥

भावार्थः—ये लोग कहते हैं कि 'हम उपदेश द्वारा हिंसा छुड़ाते हैं' तो उनसे पूछना चाहिए कि—चतुर्मास में लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े आदि अनेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है और रास्ते में वे गृहस्थ के पैर नीचे दब कर मारे जाते हैं जिसका पाप गृहस्थ को लगता है तो आप लोग (तेरहपन्थी साधु) गृहस्थ की हिंसा छुड़ाने के लिए क्यों नहीं जाते ? अपने धर्मस्थानक पर बैठ कर उपदेश देने से सारे चतुर्मास में आप लोग दस वीस व्यक्तियों को भी मुश्किल से समझा पाते होंगे किन्तु रास्ते में गृहस्थों के पैर नीचे दब कर मारे जाने वाले कीड़े-मकोड़ों से लगने वाली हिंसा को छुड़ाने का यदि आप लोग चतुर्मास में प्रयत्न करें तो सैंकड़ों, हजारों ही नहीं बल्कि लाखों जीवों की हिंसा को टला सकते हैं फिर आप लोग ऐसा क्यों नहीं करते ? ॥२३-२४॥

सो घरां अन्तर तपस्या करावण,
आलस तज उपदेशण जावे ।
सौ पग गयाँ हिंसा छूटे छै,
तो हिंसा छुड़ावण क्यों न सिधावे ॥ च० ॥ २५ ॥

भावार्थः—यदि कोई तपस्या करने वाला हो तो वे सौ घरों की दूरी पर जाकर भी तपस्या कराते हैं। तपस्या कराने के

लिए तो वे इतने दूर भी चले जाते हैं किन्तु सौ कदम की दूरी पर ही लाखों कीड़े-मकोड़ों की हिंसा छूटती हो तो भी वे वहाँ नहीं जाते हैं इसका क्या कारण है ? ॥२५॥

दीक्षा ले तो जाणे सौ कोस ऊपर,
भेषधारी भेष पेरावा जावे ।
एक कोस पर हिंसा छूटे छै,
क्रोड़ों री हिंसा क्यों न छुड़ावे ॥ च० ॥ २६ ॥

भावार्थः—यदि तेरहपन्थी साधुओं को यह मालूम हो जाय कि सौ कोस की दूरी पर कोई पुरुष दीक्षा लेने वाला है तो उसे अपने सरीखा साधु का भेष पहनाने के लिए वे सौ कोस भी चले जाते हैं किन्तु एक कोस की दूरी पर, यहाँ तक कि सौ कदम की दूरी पर ही लाखों करोड़ों कीड़े-मकोड़ों की हिंसा छूटती है तो वे वहाँ क्यों नहीं जाते ? वहाँ जाकर उन लाखों करोड़ों कीड़े-मकोड़ों की हिंसा क्यों नहीं छुड़ाते ? ॥२६॥

जब तो कहे वकरादि पंचेन्द्री,
हिंसक री हिंसा छोड़ावण जावां ।
कीड़ा मकोड़ा तो हणे घणाई,
(त्यां री) हिंसा छोड़ावण कहाँ कहाँ धावां ॥ च० ॥ २७ ॥

कीड़ा मकोड़ादि हिंसक री हिंसा,
छोड़ावा में म्हें धर्म तो जाणां ।

(पिण) सगले ठिकाने जाय ने हिंसा,
छोड़ावा रो उद्यम किम ठाणां" ॥ च० ॥ २८ ॥

भावार्थः—इस पर वे लोग (तेरहपन्थी साधु) कहते हैं कि—बकरे आदि पञ्चेन्द्रिय प्राणी की हिंसा करने वाले हिंसक की हिंसा छुड़ाने के लिए तो हम जाते हैं किन्तु कीड़े-मकोड़े आदि तो गृहस्थों के पैरों नीचे दब कर बहुत मारे जाते हैं उन सब की हिंसा छुड़ाने के लिए हम कहाँ कहाँ जावें ? गृहस्थों के पैरों नीचे दब कर मारे जाने वाले कीड़े मकोड़ों के मारे जाने से गृहस्थों को हिंसा लगती है उस हिंसा को छुड़ाने में भी हम धर्म मानते हैं किन्तु सब जगह जाकर उनकी हिंसा छुड़ाई नहीं जा सकती क्योंकि यह अशक्य है ॥२७-२८॥

तो इम हिज समझो रे भाई,
कीड़ादि रक्षा धर्म में जाणां।
मार्गादिक में सगले ठिकाणे,
बचावण रो उद्यम किम ठाणां ॥ च० ॥ २९ ॥

हिंसा छुड़ावा सगले न जावो,
तिम ही जीव बचावा रो जाणो ।
जीवरक्षा रो द्वेष धरी ने,
मिथ्यामति क्यों ऊंधी ताणो ॥ च० ॥ ३० ॥

आपणा व्रत री रक्षा करे और,
पर जीवां रा प्राण बचावे ।

हिंसक थी मरता जाणी ने,
उपदेश देई जीव छुड़ावे ॥ च० ॥ ३१ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार वे हिंसा छुड़ाने के कार्य में धर्म समझते हैं किन्तु अशक्य हिंसा छुड़ाई नहीं जा सकती उसी प्रकार रक्षा के विषय में भी उन्हें यही बात समझनी चाहिए। कीड़े-मकोड़े आदि समस्त प्राणियों की रक्षा करना धर्म है किन्तु मार्गादि सब स्थानों में कीड़े-मकोड़े आदि प्राणियों की रक्षा का प्रयत्न कैसे किया जा सकता है? जिस प्रकार मार्गादि सब स्थानों पर कीड़े-मकोड़ों की हिंसा छुड़ाना अशक्य है उसी प्रकार मार्गादि सब स्थानों पर लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े आदि की रक्षा भी अशक्य है। अशक्य बात को सामने करके जीवरक्षा में पाप बताना जीवरक्षा के साथ द्वेष करना है।

जो बात शक्य है वही की जा सकती है। इसलिए दया-धर्मी पुरुष अपने व्रत की रक्षा करते हुए उपदेश देकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले जीवों की रक्षा करते हैं ॥२६–३१॥

हिंसादि अकृत्य करता देखी,
भेषधारी कहे झट समझावाँ।
गृहस्थ पग हेटे जीव आवे तो,
तिण ने तो कहे म्हें नाय बतावाँ ॥ च० ॥ ३२ ॥
श्रद्धा ज्याँ री पग पग अटके,
न्याय सुणो ज्ञानी चित लाई।
दोनों पक्ष री सुण ने वाताँ,
सत्य ग्रहो तो है चतुराई ॥ च० ॥ ३३ ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी साधु कहते हैं कि यदि हमारे सामने कोई हिंसा आदि पाप कार्य करता हो तो हम तत्क्षण उस हिंसक की हिंसा छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जब उनसे यह पूछा जाता है कि आपके सामने आपके किसी भक्त श्रावक के पैर के नीचे दब कर कोई जीव मर रहा हो तो उस श्रावक को लगने वाली हिंसा छुड़ाने के लिए आप उस जीव को बताते हैं या नहीं ? तब वे कहते हैं कि 'हम उस जीव को नहीं बताते।'

जब उनसे यह पूछा जाता है कि 'आप कहते हैं कि हम हिंसक की हिंसा छुड़ा कर हिंसक को हिंसा के पाप से बचाते हैं तब फिर आपके सन्मुख श्रावक के पैर नीचे दब कर मरने वाले जीव को बता कर श्रावक को हिंसा के पाप से क्यों नहीं बचाते ?

इस प्रश्न का वे कुछ भी जवाब नहीं दे सकते। इस प्रकार कदम कदम पर उनकी श्रद्धा अटक जाती है फिर भी वे अपने दुराग्रह को नहीं छोडते हैं। जो पुरुष दोनों पक्ष की बातें सुनकर न्याय संगत सत्य बात को ग्रहण करता है वही चतुर एवं बुद्धिमान् है ॥३२-३३॥

बकरा री हिंसा छुड़ावण काजे,
पापी ने उपदेश देवा ने जावाँ।
भोला भरमावण इण विध बोले,
चतुर पूछे तब ज्वाब न पावाँ ॥ त्र० ॥ ३४ ॥

श्रावक पग तले चिड़ियो मरे छै,
हिंसा हुवे छै थारे सामे।

उपदेश देई ने क्यों न छुड़ावो,
श्रावक उपदेश तत्क्षण पामे ॥ च० ॥ ३५ ॥

तब तो कहे म्हें मौनज साधां;
मत मार कह्याँ म्हाँ ने पापज लागे ।
यूँ कहता म्हें तो हिंसा छुड़ावाँ,
बोल ने बदल गया क्यों सागे ॥ च० ॥ ३६ ॥

कदी कहे म्हें हिंसा छुड़ावां,
कदी मत मार कह्यां पाप केवे ।
देवलध्वज ज्यों फिरे अज्ञानी,
बोल बदल मिथ्या मत सेवे ॥ च० ॥ ३७ ॥

भावार्थः—वे लोग (तेरहपन्थी साधु) कहते हैं कि यदि कोई कसाई बकरे को मार रहा हो तो हम उस कसाई को उपदेश देकर उसका हिंसा का पाप छुड़ा देते हैं अतः हम दयाधर्मी हैं। किन्तु उनका यह कथन सिर्फ भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए है । जब चतुर पुरुष उनको इस विषय में प्रश्न पूछता है तब उन्हें कुछ भी जवाब नहीं आता, वे चुप हो जाते हैं । उनसे पूछना चाहिए कि—आपके सामने किसी श्रावक के पैर नीचे दब कर एक चिड़िया का बच्चा मर रहा है जिससे श्रावक को हिंसा का पाप लगता है । आप उस श्रावक को उपदेश देकर अर्थात् उस चिड़िया के बच्चे को बता कर श्रावक का पाप क्यों नहीं छुड़ाते ? सम्भव है कसाई तो आपके उपदेश को माने या न माने किन्तु श्रावक तो आपका भक्त है । वह तो आपके उपदेश

को मान कर तत्क्षण पाप को छोड़ देगा । फिर आप उसका पाप क्यों नहीं छुड़ाते ?

तब कहते हैं कि श्रावक के पैर नीचे दब कर चिड़िया का बच्चा मर रहा हो तो उसे हम नहीं बताते हैं। उस समय तो हम मौन रह जाते हैं क्योंकि 'मत मार' कहने से हमें पाप लगता है।

जरा सोचने की बात है कि अभी तो वे कह रहे थे कि 'हम हिंसक को उपदेश देकर उसका पाप छुड़ा देते हैं' और प्रश्न पूछने पर अब कहते हैं कि 'मत मार' कहने से हमें पाप लगता है।' जिस प्रकार देवलध्वज यानी मन्दिर पर रही हुई ध्वजा वायु के झोंके से इधर-उधर उड़ती रहती है किन्तु एक जगह स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार वे लोग भी अपने वचन पर स्थिर नहीं रहते। कभी कहते हैं कि 'हम हिंसक की हिंसा छुड़ाने में धर्म मानते हैं' और कभी कहते हैं कि 'मत मार' कहने में पाप लगता है।'

इस प्रकार जो अपने वचन पर स्थिर नहीं रहते किन्तु बोल कर बदल जाते हैं वे असत्य भाषी मिथ्यात्वी हैं ॥३४-३७॥

(कहे) हिंसादि अकृत्य करता देखी,
उपदेश देई म्हें हिंसा छुड़ावाँ।
अकृत्य करता रा पाप मेटण में,
फुरती कराँ म्हें देर न लगावाँ ॥ च० ॥ ३८ ॥
* डफोरशंख ज्याँ वात या थारी,
काम पड्यां से झट नट जावो ।

* जो जैसा कहते हैं परन्तु वैसा करते नहीं उन्हें डफोरशंख कहा जाता है।

गृहस्थी रा पग हेटे जीव मरे जब,
हिंसा छोड़ावण तुम नहीं चावो ॥ च० ॥ ३६ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि, "हिंसादि पाप का कार्य करते देख कर हम उपदेश द्वारा उस हिंसक के पाप को छुड़ाते हैं। हिंसक के हिंसादि पाप छुड़ाने में हम किञ्चिन्मात्र भी देर नहीं करते हैं किन्तु तत्काल हम उसका पाप छुड़ाते हैं।"

उन लोगों का यह उपरोक्त कथन डफोरशंख के समान निरर्थक है क्योंकि जब हिंसा छुड़ाने का काम पड़ता है तब अपने वचन का पालन नहीं करते। उनके सामने किसी श्रावक के पैर नीचे दब कर कोई जीव मर रहा हो तो वे उस जीव को बता कर उसकी हिंसा नहीं छुड़ाते हैं ॥३८-३६॥

तेल ढुलण दृष्टान्त रे न्याय,
पगतल जीव बतावणो खोटो।
ते दृष्टान्त थी थारी श्रद्धा में,
हिंसा छुड़ावण में होसी तोटो ॥ च० ॥ ४० ॥

भावार्थः—उन लोगों ने तेल गिरने का एक दृष्टान्त दिया है। उस दृष्टान्त के अनुसार यदि श्रावक के पैर नीचे दब कर मारे जाने वाले जीव को बताने में पाप माना जायगा तब तो हिंसा की हिंसा छुड़ाने में भी उन लोगों को पाप मानना पड़ेगा ॥४०॥

युक्ति पे युक्ति सुणो चित्त लाई,
जीव बचावणो धर्म रे मांई।

जो जीव बचावा में पाप बतावे,

वां ने उत्तर दो समझाई ॥ च० ॥ ४१ ॥

भावार्थः—प्राणियों की प्राण रक्षा करने में पाप बताने वाले लोगों ने तेल गिरने की जो युक्ति दी है अब उसका उत्तर दिया जाता है जिससे जीवरक्षा धर्म का कार्य है यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ॥४१॥

* गृहस्थ रे घर साधु गोचरी पहुँच्या,

गृहस्थ ने अकृत्य करतो देखे।

तेल घड़ा ने फोरे न ढोरे,

कीड़ियों रा दर मांही जावे विशेखे ॥ च० ॥ ४२ ॥

* जैसा कि वे कहते हैं:—

गृहस्थ रे तेल जाय गूंणा फुट्यां,

कीड़ियों रा दर मांही रेला आवे।

बीच में जीव आवे तेल सूँ बहता,

तेल बहयो बहयो अग्नि में जावे ॥

वेशधारी भूलां री निर्णय कीजे ॥ १८ ॥

जो अग्नि उठे तो लाय लागे छै,

त्रस थावर जीव मारया जावे।

गृहस्थ रा पग हेठे जीव बतावे,

तो तेल ढुले ते बासण क्यों न बतावे ॥ १९ ॥

पग सूँ मरता जीव बतावे,

तेल सूँ मरता जीव नहीं बतावे।

यह खोटी श्रद्धा उघाड़ी दीसे,

पण अभ्यंतर अंधारो नजर न आवे ॥ २० ॥

(अनुकम्पा ढाल ७ गाथा १८-२०)

इस पर दयाधर्मी मुनि उत्तर देते हैं कि "उन लोगों ने यह प्रश्न अपने मन से ही झूठमूठ खड़ा किया है। हम लोग तो मरते हुए जीवों की रक्षा करने में सदा सर्वत्र धर्म मानते हैं। इसीलिए जिस प्रकार गृहस्थ के पैर से दब कर मरने वाले जीव को बता कर उसकी प्राणरक्षा करते हैं उसी प्रकार तेल से मरते हुए जीवों की रक्षा करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। उन जीवों की प्राणरक्षा करने में भी हम धर्म ही मानते हैं। इस प्रकार हम दयाधर्मी लोगों की श्रद्धा तो कहीं नहीं अटकती है किन्तु जीवरक्षा में पाप बताने वाले लोगों की श्रद्धा पग पग पर अटकती है। ये लोग कहते हैं कि "हम हिंसक की हिंसा छुड़ाते हैं" किन्तु तेल द्वारा हिंसा करने वाले हिंसक की हिंसा नहीं छुड़ाते हैं। उन लोगों के कथन का कोई ठिकाना नहीं है। ये अपने वचन पर स्थिर नहीं रहते हैं। भीषणजी द्वारा चलाये हुए इस तेरहपन्थ मत के सिवाय संसार में ऐसा कोई पन्थ नहीं है जो जीवरक्षा में पाप मानता हो। सिर्फ यह तेरहपन्थ मत ही जीवरक्षा में पाप मानता है। इसकी यह मान्यता संसार के सर्व धर्मों से विपरीत है। इस लिए ये लोग चर्चा में अपनी मान्यता पर स्थिर नहीं रह सकते। ये अपने कथन को बारबार पलटते रहते हैं फिर भी ये अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हैं ॥४६-४८॥

(कहे) * श्रावक रा पग तल अटवी में,
जीव मरे त्यां ने क्यों न बचाओ।

* जैसा कि वे कहते हैं:—

एक पग हेटे जीव बतावे,
त्यां में थोड़ा सा जीवां ने बचता जाणी।
श्रावकां ने उजाड़ कुमारग घाल्यां,
घणा जीव बचे त्रस थावर प्राणी ॥ भ्रे० ॥ ३४ ॥

(उत्तर) वाँ पिण म्हें तो जीव बतावाँ,
भूठी वातां क्यों थे उठावो ॥ च० ॥ ४६ ॥

थारा हेतु थी थारी श्रद्धा में,
दूषण आवे विचारी देखो ।
मिथ्या ज्ञान मिटावण काजे,
थारा हेतु रो भाखूँ लेखो ॥ च० ॥ ५० ॥

भावार्थः—वे (तेरहपन्थी) लोग दयाधर्मी मुनियों से पूछते हैं कि—"तुम अपने सामने श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताते हो तो जंगल में जाते हुए श्रावकों के पैर नीचे दब कर मरने वाले जीवों को बता कर उनकी रक्षा क्यों नहीं करते?

इस पर दयाधर्मी मुनि कहते हैं कि "तुमने यह प्रश्न ही मिथ्या उठाया है क्योंकि हम लोग जीवरक्षा में धर्म मानते हैं इसलिए द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार जहाँ कहीं भी शक्य हो जीवों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। अतः जंगल में भी यथाशक्य जीवों की रक्षा करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। इसलिए तुम्हारा यह प्रश्न करना ही व्यर्थ है। तुम लोगों ने जो हेतु देकर प्रश्न किया है उस हेतु से तुम्हारी श्रद्धा में ही दूषण आता है। सो अब आगे बताया जाता है ॥४६–५०॥

थोड़ी दूर बतायाँ थोड़ो धर्म हुवे तो,
घणी दूर बतायाँ घणो धर्म जाणो ।
घणीं दूर रो नाम लियाँ बक उठे,
ते खोटी श्रद्धा रो अहिनाणो ॥ भे० ॥ २५ ॥
(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा २४-२५)

भावार्थः—वे (तेरहपन्थी साधु) लोग कहते हैं कि—"यदि कोई कसाई बकरे को मार रहा हो तो हम उस कसाई को उपदेश देकर उसकी हिंसा छुड़ा देते हैं" तो उन लोगों से पूछना चाहिए कि सम्भव है कसाई तो तुम्हारा उपदेश माने या न भी माने किन्तु तुम्हारे श्रावक तो तुम्हारे भक्त हैं वे तो तुम्हारा उपदेश अवश्य मानेंगे तो फिर वन में उल्ट मार्ग जाते हुए अपने भक्त श्रावकों के पैरों नीचे दब कर मरने वाले त्रस स्थावर जीवों की हिंसा को तुम क्यों नहीं छुड़ाते हो ? "हिंसा छुड़ाने में धर्म है" ऐसा तुम स्वयं अपने मुख से कहते हो फिर तुम्हारे श्रावकों के पैरों से दब कर मरने वाले जीवों की हिंसा छुड़ाने में तुम धर्म क्यों नहीं मानते हो ? ॥५४-५६॥

* दो पग (हिंसा) छोड़ायां थोड़ो धरम हुवे,
घणा पग छुड़ायां घणो धर्म जाणो ।
घणा पगों रो नाम लिया वक उठे,
तो खोटी श्रद्धा रो अहि नाणो ॥ च० ॥ ५७ ॥

भावार्थः—दो चार कदम तक यानी थोड़ी दूर तक अपने भक्त श्रावकों के पैरों नीचे दब कर मरने वाले जीवों की हिंसा छुड़ाने में थोड़ा धर्म होता है तो जंगल में बहुत दूर तक उनके

* जैसा कि वे कहते हैं:—

थोड़ी दूर बतायां थोड़ो धर्म हुवे,
तो घणी दूर बतायां घणो धर्म जाणो ।
घणी दूर रो नाम लिया वक उठे,
तो खोटी श्रद्धा रो अहि नाणो ॥ भे० ॥ २५ ॥
(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा २५)

पैरों से होने वाली हिंसा छुड़ाने में बहुत धर्म होगा। इसलिए उन लोगों को (तेरहपन्थी साधुओं को) बहुत दूर तक हिंसा छुड़ा कर बहुत धर्म लाभ प्राप्त करना चाहिए किन्तु बहुत दूर का नाम सुनकर जो लोग झल्ला उठें और बकवाद करने लगें तो समझना चाहिए कि उनकी श्रद्धा खोटी है, यही खोटी श्रद्धा की पहचान है। जब वे हिंसा छुड़ाने में धर्म मानते हैं तब वे जंगल में बहुत दूर तक अपने भक्त श्रावकों के पैरों नीचे दब कर मरने वाले त्रस स्थावर जीवों की हिंसा को वे क्यों नहीं छुड़ाते हैं ? ॥५७॥

* अन्धा पुरुष रो हेतु देने,
जीव बतावा में पाप बतावे।
तो तेहिज हेतु थी हिंसा छुड़ावा में,
ते नी श्रद्धा में दूषण आवे ॥ च० ॥ ५८ ॥

भावार्थः—श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी रक्षा करने में पाप बतलाने के लिए तेरहपंथी

* जैसा कि वे कहते हैं:—

कोई अन्धा पुरुष गामान्तर जातां,
आंख बिना जीव किण विध जोवे।
कीड़ी माखादिक चींथतो जावे,
त्रस थावर जीवां रा घमसाण होवे ॥ भे० ॥ २६ ॥
वेषधारी सहजे साथे ही जातां,
अंधा रा पग सूं मरता जीवां ने देखे।
यह पग पग जीवों ने नहीं बतावे,
तो खोटी श्रद्धा जाणज्यो इण लेखे ॥ भे० ॥ २७ ॥
(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा २६–२७)

तेहिज हेतु थी त्याँरी श्रद्धा में,
हिंसा छुड़ायां में दूषण रेवे ॥ च० ॥ ६२ ॥

भावार्थः—श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी रक्षा करने में पाप बताने के लिए तेरहपन्थी लोगों ने ईली आदि जीवों वाले आटे के गिरने का दृष्टान्त दिया है किन्तु इस दृष्टान्त से जीवरक्षा में तो पाप सिद्ध नहीं होता प्रत्युत "हिंसा छुड़ाने में धर्म होता है" उनकी इस मान्यता में दूषण आता है। वह दूषण किस प्रकार आता है सो अब आगे बताया जाता है ॥६२॥

ईल्यादि जीवां सहित आटो छै,
गृहस्थ ढोले छै मारग मायो ।
तपती रेत उनाला री तिण में,
पड़त मरे हिंसा बहु थायो ॥ च० ॥ ६३ ॥

गृहस्थ रे ज्ञान न पाप लागण रो,
ते कदा थारे समझ में आयो ।
थें हिंसा देखी छोडावणी केवो,
आटो ढुरता हिंसा थीं क्यों न मुकावो ॥ च० ॥ ६४ ॥

भावार्थः—किसी गृहस्थ के पास ईल्यां आदि जीवों सहित आटा है। वह उस आटे को ग्रीष्म ऋतु की अत्यन्त तपी हुई बालू रेत में, मार्ग में डाल रहा है जिससे उन ईल्याँ आदि जीवों की घात होती है। उस गृहस्थ को उन जीवों की हिंसा के

पाप का ज्ञान नहीं है। तुम (तेरहपन्थी साधु) इस कार्य को देख रहे हो। तुम्हारे मतानुसार हिंसा छुड़ाने में धर्म है फिर उस पुरुष की हिंसा क्यों नहीं छुड़ाते ? और आटा गिराने से उसे क्यों नहीं रोकते ? ॥६३–६४॥

(कहे) * "गृहस्थ री उपाधि सूं जीव मरे छै,
सब छोड़ बतावा ने क्यों नहीं जावो।
तो उत्तर सीधो थारा हेतु री,
हिंसा छुड़ावा ने थें क्यों नहीं धावो ॥ च० ॥ ६५ ॥

किणहिक ठौर हिंसा छुड़ावे,
किणहिक ठौर शंका मन आणे।
मिथ्या उदय थी समझ पड़े नहीं,
अज्ञानी जन तो ऊंधी ताणे ॥ च० ॥ ६६ ॥

गृहस्थ विविध प्रकार री वस्तु थी,
जीवां री हिंसा कीधी ने करसी।
हिंसा देखी छोड़ावणी केवे,
तो सगली ठौर छोड़ावणी पड़सी ॥ च० ॥ ६७ ॥

* जैसा कि वे कहते हैं:—
इत्यादि गृहस्थ रे अनेक उपधि सूं,
त्रस थावर जीव मुवा ने मरसी।
एक पग हेठे जीव बतावे,
त्यां ने सगली ही ठौर बतावणा पड़सी ॥ ३१ ॥
(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा ३१)

एक में धर्म दूजा में पापो,
इम श्रद्धे ते मिथ्यामति देखो ॥ च० ॥ ७२ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार मुनि सब जगह हिंसा छुड़ाने के लिए नहीं जा सकता है उसी प्रकार मुनि सब जगह जीवरक्षा करने के लिए भी नहीं जा सकता है। किन्तु द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार मुनि हिंसा छुड़ाता है उसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार मुनि जीवरक्षा करता है। हिंसा छुड़ाना और जीवरक्षा करना दोनों कार्य एक समान हैं। अतः हिंसा छुड़ाने में धर्म कहना और जीवरक्षा करने में पाप कहना मिथ्यात्वियों का कार्य है ॥७१-७२॥

गृहस्थी रा पग हेठे जीव आवे तो,
साधु बतावे तो पाप न चाल्यो।
भेषधारी तिण में पाप बतावे,
परतख घोचो कुगुरां घाल्यो ॥ च० ॥ ७३ ॥

भावार्थः—"गृहस्थ के पैर नीचे दब कर यदि कोई जीव मरता हो तो उसे बता कर जीवरक्षा करने में पाप होता है" ऐसा किसी भी शास्त्र में नहीं कहा है फिर भी साधु नाम धराने वाले भेषधारियों ने इस कार्य में पाप बता कर भोले लोगों को भ्रम में डालने की धृष्टता की है। ऐसे कुगुरु मिथ्यात्वी हैं। वे स्वयं मिथ्यात्व में डूबे हुए हैं और दूसरे लोगों को भी मिथ्यात्व में डुबाने की चेष्टा करते हैं। अतः ऐसे कुगुरु मिथ्यात्वियों का संग छोड़ देना चाहिए ॥७३॥

(कहे) "समवसरण जीव आता ने जाता,
केई रा पग से जीव मर जाया ।
जो जीव बचायां में धर्म होवे तो,
भगवन्त कठे ही न दीसे बताया ॥ च० ॥ ७४ ॥

नन्दन मणिहार डेडको होय ने,
वीर वन्दण जातो मारग मांयो ।
तिण ने चींथ मारयो श्रेणिक ना वछेरे,
वीर साधु सामां मेल क्यों न बचायो ॥ च० ॥ ७५ ॥

ते थी जीव बतायां में पाप बतावाँ",
एवी कुगुरु कुतर्क उठावे ।
न्याय से उत्तर ज्ञानी देवे,
तब चुप होवे जवाब न आवे ॥ च० ॥ ७६ ॥

"भावार्थः—तेरहपन्थी लोग कहते हैं कि—भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में धर्मोपदेश सुनने के लिए बहुत मनुष्य आते और जाते थे उनके पैरों नीचे दब कर कई जीव मरे होंगे किन्तु भगवान् ने उन जीवों की रक्षा की हो ऐसा शास्त्रों में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है पैर के नीचे दब कर मरने वाले जीवों को बता कर उनकी रक्षा करने में यदि धर्म होता तो भगवान् उन जीवों को अवश्य बचाते ।

शास्त्र में एक उदाहरण आता है कि नन्दन-मनिहार का जीव मर कर जब मेंढक हो गया था तब वह मेंढक एक समय

भगवान महावीर स्वामी के दर्शन करने के लिए जा रहा था। उसी समय घोड़े पर सवार होकर राजा श्रेणिक भी भगवान के दर्शन करने के लिए जा रहा था। उसके घोड़े का पैर उस मेंढक पर पड़ गया और वह मर गया। यदि जीव बचाने में धर्म होता तो भगवान् अपने साधुओं को वहाँ भेज कर उस मेंढक की रक्षा क्यों नहीं करवाते ?

इन कारणों से हम (तेरहपन्थी) कहते हैं कि किसी के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी रक्षा करने में पाप है।"

इस प्रकार वे लोग कुतर्क उठाते हैं किन्तु जब ज्ञानी पुरुष उन्हें उत्तर देते हैं तो उनकी जबान बन्द हो जाती है। उनकी इस कुतर्क का उत्तर आगे दिया जाता है ॥७४-७६॥

जो जीव बचावा साधु न मेल्या,
तिण थी जीव बचायां में पापो।
तो राजगिरी नगरी रे मांही,
हिंसादि कुकर्म होता संतापो ॥ च० ॥ ७७ ॥

भगवन्त ते कुकर्म छोडावा,
साधां ने मेल्या कठेई न न दीसे।
तो थारे लेखे उपदेश देई ने,
कुकर्म छुड़ावा में पाप विशेषे ॥ च० ॥ ७८ ॥

जो कुकर्म छुड़ावणा धर्म रे माँही,
(पिण) उपदेश साधु अवसर थी देवे।

तो जीव बचावणो धर्म रे माँही,
अवसर स्थान विचारी लेवे ॥ च० ॥ ७६ ॥

भावार्थः—"श्रेणिक राजा के घोड़े के पैर नीचे दब कर मरने वाले मेंढक की रक्षा के लिए भगवान् महावीर स्वामी ने अपने साधुओं को नहीं भेजा था। इसलिए जीवरक्षा पाप है" यदि यह दलील देकर वे लोग जीवरक्षा करने में पाप बताते हैं तो यही दलील हिंसादि कुकर्म छुड़ाने में पाप सिद्ध करने के लिए भी दी जा सकती है, जैसे कि—"राजगृही नगरी में छः गोठीले पुरुषों द्वारा बहुत सा हिंसादि कुकर्म होता था। उस हिंसादि कुकर्म को छुड़ाने के लिए भगवान् ने साधुओं को नहीं भेजा था। इसलिए उपदेश देकर हिंसादि कुकर्म छुड़ाना पाप है।"

इस पर यदि वे लोग यह कहें कि उपदेश द्वारा हिंसादि पाप कर्म छुड़ाना धर्म है किन्तु साधु द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता देख कर उपदेश द्वारा हिंसादि कुकर्म छुड़ाते हैं तो उन्हें सरल बुद्धि से यही बात जीवरक्षा के विषय में भी समझनी चाहिए कि 'जीवरक्षा करना धर्म है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर साधु जीवरक्षा के लिए उपदेश देते हैं और जीवरक्षा करते हैं' ॥७७—७६॥

कोई गृहस्थ उपदेश देई ने,
सब ठामे जाई महा हिंसा छुड़ावे।
कोई पञ्चेन्द्रिय जीव बचावे,
ये दोनों ही धर्म तणो फल पावे ॥ च० ॥ ८० ॥

हिंसा छुड़ायां तो धर्म बतावे,
जीव बचायां पाप जो केवे।
ऊंधी श्रद्धा या पग पग अटके,
ताण करी करी दुर्गति लेवे ॥ च० ॥ ८१ ॥

भावार्थः—कोई श्रावक सब जगह जाकर उपदेश द्वारा महाहिंसादि कुकर्म छुड़ाता है और कोई श्रावक बकरे आदि पञ्चेन्द्रिय जीवों की रक्षा करता है। ये दोनों धर्म के कार्य हैं। इन दोनों कार्यों को करने वाले वे दोनों श्रावक धर्म फल के भागी होते हैं।

जो लोग हिंसादि कुकर्म छुड़ाने में तो धर्म मानते हैं किन्तु जीवरक्षा में पाप बताते हैं, उन लोगों की यह श्रद्धा उल्टी (विपरीत) है। इस विषय में प्रश्न पूछने पर उन्हें निरुत्तर होना पड़ता है फिर भी वे अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हैं। इस दुराग्रह के कारण वे नरकादि दुर्गतियों को प्राप्त होते हैं ॥८०-८१॥

श्रावक रो नाम तो अलगो मेली,
साधां रा कर्तव मुख लावे।
द्रव्य क्षेत्र काल भाव रे अवसर,
साधु कार्य कियां गुण पावे ॥ च० ॥ ८२ ॥

सज्झा, ध्यान, तप, विहार विचरणो,
व्याख्यान व्यावच्च धर्म रो कामो।
बल बुद्धि और क्षेत्र काल रे,
विवेके करे साधु गुणधामो ॥ च० ॥ ८३ ॥

विन अवसर ये नाय करे तो,
  सज्झा ध्यान न पाप में आवे ।
विन अवसर जीव नांय छुड़ायां,
  जीव छुडावणो पाप न थावे ॥ च० ॥ ८४ ॥

भावार्थः—उन लोगों को जीवरक्षा से द्वेष है इसलिए श्रावक का नाम न लेते हुए सिर्फ साधु के कार्यों को सामने लाते हैं। साधु निरारम्भी है उसने महारम्भ और अल्पारम्भ सब प्रकार के आरम्भों का सर्वथा त्याग कर दिया है। वह अपने साधु-जीवन की मर्यादाओं से बंधा हुआ है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर कार्य करता हुआ साधु गुणों को उपार्जन करता है। जैसे कि स्वाध्याय, ध्यान, तप, विहार, व्याख्यान, वैयावच्च आदि धर्म के कार्य हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर अपने बल (शक्ति) और बुद्धि के अनुसार साधु इन कार्यों को करता है किन्तु विना अवसर सब समय में इन कार्यों को नहीं करता है। जिस प्रकार विना अवसर स्वाध्याय ध्यान आदि कार्य न करने पर भी ये कार्य पाप में नहीं कहे जाते हैं उसी प्रकार विना अवसर जीवरक्षा का कार्य न करने पर भी जीवरक्षा का कार्य पाप में नहीं है, यह उन्हें सरल बुद्धि से समझना चाहिए ॥८२–८४॥

कदा केई एम परूपे,
  साधु श्रावक री अनुकम्पा एको ।
साधु करे तिम श्रावक ने करणी,
  पिण काम पड़े जद फिरता ही देखो ॥ च० ॥ ८५ ॥

साधु साधु थी मरता जीव बतावे,
पाप टले अनुकम्पा गावे।
श्रावक श्रावक थी मरता जीव बतावे,
झटपट तेने पाप बतावे ॥ च० ॥ ८६ ॥

श्रावक-श्रावक ने (मरता) जीव बतावे,
(तो) किसो पाप लागे, किसो व्रत भागे।
तिण रो तो उत्तर मूल न आवे,
थोथा गाल बजावा लागे ॥ च० ॥ ८७ ॥

भावार्थः—यदि ये लोग यह कहें कि—"साधु और श्रावक दोनों की अनुकम्पा एक है। जो कार्य साधु करता है वही कार्य श्रावक को करना चाहिए उसी कार्य में धर्म होता है।" किन्तु ऐसा कथन करने वाले ये लोग स्वयं अपने कथन पर स्थिर नहीं रहते हैं, जैसे कि साधु के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि दूसरा साधु उसे बता दे तो इस कार्य में वे धर्म बताते हैं। इसी प्रकार किसी श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि दूसरा श्रावक उसे बता दे तो उन्हें इस कार्य में धर्म मानना चाहिए किन्तु ये लोग इस कार्य में पाप बताते हैं। साधु के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताने का जो कार्य साधु ने किया वही कार्य अर्थात् श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताने का कार्य श्रावक ने किया है फिर इस कार्य में वे पाप क्यों बताते हैं? जिस बात की स्थापना उन्होंने की थी उस बात पर वे स्वयं स्थिर नहीं रहते हैं।

दूसरी बात उनसे यह पूछनी चाहिए कि श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को श्रावक ने बतला दिया तो उसने कौनसा पाप किया है ? उसका कौन सा व्रत भंग हुआ है ? ॥८४-८७॥

सिद्धान्त बल बिना बोले अज्ञानी,
संभोग रो नाम अनुकम्पा में लावे ।
गालां रा गोला मुख से चलावे,
ते न्याय सुणी भवियण चित्त चावे ॥ च० ॥ ८८ ॥

साधु रे संभोग श्रावक से नाहीं,
(वे थी) जीव बतावा में पाप बतावो ।
श्रावक साधु ने जीव बतावे,
तिण में तो धर्म तुमें क्यों न गावो ॥ च० ॥ ८९ ॥

जद कहे म्हारी हिंसा टलाई,
धर्म रो काम कियो सुखदाई ।
श्रावक श्रावक ने जीव बतावे,
यो पिण धर्म मानो क्यों न भाई ॥ च० ॥ ९० ॥

साधु थी मरता जीव बचाया,
श्रावक थी मरता तिम ही बचाया ।
एक ने धर्म ने दूजा में पापो,
ए झगड़ा थारी श्रद्धा में मचिया ॥ च० ॥ ९१ ॥

भूत भविष्य में जीव बतायां,
धर्म रो काम म्हें कहि समझावाँ ॥ च० ॥ ६४ ॥

वर्तमान (काल) पग हेठे आया बतायां,
पाप हुवे म्हारी श्रद्धा रे मांई ।
तो भूल्या रे भूल्या थें मूल से भूल्या,
धर्म तो करणी तिहुँ काल सदाई ॥ च० ॥ ६५ ॥

पाप त्याग अरु धर्म रो उधम,
तिहुँ काले किया हुवे सुखदाई ।
भूत भविष्य में धर्म हुवे तो,
वर्तमाने पाप कदापि न थाई ॥ च० ॥ ६६ ॥

वर्तमान जीव बतायां पापो,
तो भूत भविष्य में पाप संतापो ।
जो परोच बतायां भावी दया करसी,
प्रतख में मिटे प्रतख पापो ॥ च० ॥ ६७ ॥

गृहस्थ रा पग हेठे उन्दर बतायां,
परतख पाप गृहस्थ रो टलियो ।
उन्दर रे आरत रुद्र रो,
महाक्लेश टलवा रो फल मिलियो ॥ च० ॥ ६८ ॥

भावार्थः—इस पर यदि ये लोग यह कहें कि "हम (साधु) श्रावकों को जीवों के भेद तो ज्ञान के लिए सिखलाते हैं और दया

के लिए भी सिखलाते हैं किन्तु साथ में यह भी सिखलाते हैं कि भूतकाल और भविष्यत्काल में दया करना धर्म है किन्तु वर्तमानकाल में दया करना (जीव बचाना) पाप है तो उनका यह कथन अज्ञानतापूर्ण है क्योंकि जब भूतकाल और भविष्यत्काल में दया करना (जीव बचाना) धर्म है तो वर्तमान काल में दया करना (जीव बचाना) पाप कैसे हो सकता है ? और यदि वे वर्तमानकाल में जीव बचाना पाप कहते हैं तो फिर भूतकाल और भविष्यत्काल में जीव बचाना उन्हें पाप में मानना पड़ेगा। यह कैसे हो सकता है कि भूतकाल और भविष्यत् काल में जीव बचाना धर्म है और वर्तमान काल में पाप है ? इस प्रकार का कथन करना भारी भूल है। जो पुरुष भविष्यत्काल में जीव बचाने रूप भावी दया करेगा वह वर्तमान काल में प्रत्यक्ष जीव बचाने रूप दया का कार्य कैसे नहीं करेगा ? पाप का त्याग और धर्म का कार्य तो तीनों काल में सदा सुखदायी होता है। अतः पाप का त्याग और धर्म का कार्य वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों काल में करना चाहिए। जिस प्रकार भविष्यत्काल में जीव बचाने रूप दया का कार्य करने से उस जीव का भविष्यत्काल में पाप-संताप मिटेगा उसी प्रकार वर्तमानकाल में श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए चूहे आदि जीव को बचा कर उसकी प्राणरक्षा करने से उस जीव के आर्त्त-रौद्र ध्यान रूपी महाक्लेश मिट गया और उसकी हिंसा से श्रावक को लगने वाला पाप टल गया। इस प्रकार उन दोनों (श्रावक और उसके पैर नीचे दब कर मरने वाला जीव) जीवों का पाप संताप मिट गया। यह प्रत्यक्ष धर्म का कार्य है। इसमें पाप कहना अज्ञानता है॥६४-६८॥

जो विन संभोगी पाप टालण में,
पाप लागे यूँ थें कदा माखो।
तो उपदेशे गृहस्थ रा पाप टालण में,
थारी श्रद्धा में पाप ने राखो ॥ च० ॥ ९९ ॥

इण श्रद्धा रो निर्णय न काढे अज्ञानी,
दया मेटण लियो संभोग शरणो।
पाप छुड़ाणो संभोग में नाहीं,
शंका हो तो करो भवि निरणो ॥ च० ॥ १०० ॥

नहीं मारण ने जीव वतायाँ,
संभोग लागे ऐसो वतावे।
तो पाप छुड़ावण परतख वतावो,
भागल पणो थारी श्रद्धा में आवे ॥ च० ॥ १०१ ॥

भावार्थः—यदि कदाचित् वे लोग यह कहें कि साधु का श्रावक के साथ संभोग नहीं है। इसलिए श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को वता कर उसकी प्राणरक्षा करने से साधु को पाप लगता है तो उनसे पूछना चाहिए कि—तुम (साधु) उपदेश देकर श्रावक का पाप छुड़ाते हो उसमें तुम पाप क्यों नहीं मानते ? तुम्हारी उपरोक्त मान्यतानुसार तो उपदेश देकर श्रावक का पाप छुड़ाने में भी तुम्हें पाप मानना पड़ेगा।

जब जीवरक्षा का प्रश्न आता है तब तुम संभोग का नाम लेते हो तो पाप छुड़ाने में संभोग क्यों नहीं बताते हो ? जब श्रावक के पैर नीचे दब कर मरने वाले जीव को बता कर

उसकी रक्षा करने में संभोग लगता है तो श्रावक का पाप छुड़ाने में संभोग क्यों नहीं लगेगा ? जीवरक्षा में संभोग बताना और पाप छुड़ाने में सम्भोग न मानने वालों की श्रद्धा में भागलपन (त्रुटि) आता है। उन लोगों की जीवरक्षा से द्वेष है इसलिए झूटमूट ही सम्भोग का नाम लेकर वे जीवरक्षा में पाप बतलाते हैं। सत्य तत्त्व तो यह है कि श्रावक का पाप छुड़ाना और जीवरक्षा करना इन दोनों कार्यों का सम्भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए जिस प्रकार साधु श्रावक का पाप छुड़ाता है उसी प्रकार साधु श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी प्राणरक्षा भी करता है। इन दोनों कार्यों से उसे धर्म होता है, पाप नहीं ॥९९-१०१॥

लाय लागी गृहस्थ जब देखे,
तुर्त बुझावे, रक्षा मन धारी ।
इण रक्षा रो काम गृहस्थ करे छै,
तिण में एकान्त पाप कहे सांगधारी ॥ च० ॥ १०२ ॥

भावार्थः—जब गृहस्थ कहीं लाय लगी हुई देखता है तो मन में अनुकम्पा लाकर उसे बुझाता है और उसमें जलते हुए जीवों की रक्षा करता है किन्तु कितनेक साधु भेष को धारण करने वाले निर्दयी इस रक्षा के कार्य में पाप बताते हैं ॥१०२॥

(कहे) "लाय में बले ज्याँ रे करज चुके छै,
कर्म छूटण री निर्जरा भारी ।
बीच पड़ ज्याँ ने कोई काढे,
वह होवे पाप तणो अधिकारी" ॥ च० ॥ १०३ ॥

कहते हो ? जिस प्रकार तुम्हारे परिणाम बिगड़ जाते हैं और आर्त्त-रौद्र ध्यान पैदा हो जाता है जिससे पाप कर्म का बन्ध होता है उसी प्रकार क्या दूसरे जीवों के परिणाम नहीं बिगड़ते हैं और आर्त्त-रौद्र ध्यान पैदा होकर क्या पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है ? लाय में जलते हुए प्राणी बिलबिलाहट शब्द करते हुए आर्त्त-रौद्र ध्यान ध्याते हैं और जिससे पाप-कर्म का बन्ध करते हैं अतः "लाय में जलता हुआ जीव कर्म ऋण चुकाता है" यह तुम्हारा कथन मिथ्या है ॥१०६-१०७॥

ते तो महाआरत रे वश थी,
लाय वन्याँ संसार वधावे।
ते अनन्त संसार रा पाप मुकावा,
दयावन्त त्याँ ने बाहिर लावे ॥ च० ॥ १०८ ॥

भावार्थः—लाय में जलने वाला प्राणी आर्त्त-रौद्र ध्यान करता हुआ अनन्त संसार बढ़ाता है। उस अनन्त संसार के पाप को छुड़ाने के लिए दयावान् पुरुष उसे लाय से बाहर निकालता है जिससे उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान मिट जाते हैं। इस लाय से बाहर निकाल कर उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान मिटाने में पाप कहना अज्ञानियों का कार्य है ॥१०८॥

ज्याँ ज्याँ गृहस्थ रा गुण रो वर्णन,
त्याँ त्याँ अल्पारम्भी भाख्या।
वली हलुकर्मीपणो गुणां में,
तुमें कहो थारा ग्रन्थ में दाख्या ॥ च० ॥ १०९ ॥

अल्पारम्भी गुण श्रावक केरो,
उवाई सूगडायंग में देखो ।
महारम्भी श्रावक नहीं होवे,
अल्पारम्भी श्रावक रो लेखो ॥ च० ॥ ११० ॥

भावार्थः—सूयगडांग सूत्र और उववाई सूत्र में तथा और दूसरे दूसरे सूत्रों में जहाँ जहाँ श्रावकों के गुणों का वर्णन है वहाँ वहाँ उन्हें अल्पारम्भीपन और हलुकर्मीपन श्रावकों के गुण हैं। श्रावक महारम्भी नहीं होते हैं। इस बात को वे (तेरहपन्थी) लोग भी मानते हैं और उनके ग्रन्थों में भी श्रावकों के ये गुण बतलाये गये हैं ॥१०९-११०॥

लाय लगावे ते महा अवगुण में,
सूत्र मांही जिन इणविध भाख्यो ।
ज्ञानावरणी आदि कर्म रो कर्त्ता,
ते थी महाकर्मी प्रभु दाख्यो ॥ च० ॥ १११ ॥

महा क्रियावन्त तेने जाणो,
महा आश्रव कर्मबन्ध नो करता ।
परजीव ने महावेदन दाता,
एहवा दुर्गण नो ते धरता ॥ च० ॥ ११२ ॥

लाय बुझावे तेना गुण तो,
भगवती मांही इणविध बोले ।

अल्प कर्म ज्ञानावरणीयादि,
ते थी हलुकर्मी इण तोले ॥ च० ॥ ११३ ॥
अल्पक्रिया अल्प आश्रवी ते छै,
ते थी माठा कर्म न बांधे।
जीवाँ ने बहु वेदना नहीं देवे,
अल्पवेदना गुण ते साधे ॥ च० ॥ ११४ ॥
सूत्र रो न्याय विचारी जीवो,
अग्नि लगावे महारम्भी पापी।
तिण ने बुझावे ते अल्पारम्भी,
हलुकर्मी यो वीरजी थापी ॥ च० ॥ ११५ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान ने भगवती सूत्र में फ़र्माया है कि लाय लगाने वाला ...
यादि कर्मों का ...
आश्रवी, दूसरे ...
का धारक होता
लगाने वाले ...
आश्रवी आ...
तीर्थङ्कर भग...
लाय लगाने
वाला

लाय

अभयदान रो पिण ते दाता,
शुद्ध परिणामी ते धर्म में लहिये ॥ च० ॥ ११६ ॥

भावार्थः—जब कि लाय लगाने की अपेक्षा लाय बुझाना अल्पारम्भ का कार्य है तब यह स्पष्ट है कि लाय में जलते हुए मनुष्यों को बचाना महागुण का कार्य है। लाय में जलते हुए प्राणियों की रक्षा करने वाला पुरुष अभयदान का दाता है, वह शुद्ध परिणामी है अतः वह धर्म का भागी होता है ॥११६॥

(कहे) "लाय बुझावे ते अल्पारम्भी,
तो पिण पापी, धर्मी तो नाहीं।
थोड़ा आरम्भ ने गुण में न श्रद्धो,
आरम्भ सगला पाप रे मांही" ॥ च० ॥ ११७ ॥

(उत्तर) इम बोले तो जाणो अज्ञानी,
अल्प-महारम्भ रो भेद न पाया।
अल्पारम्भी तो स्वर्ग में जावे,
(तेथी) अल्पारम्भी ने गुण में बताया ॥ च० ॥ ११८ ॥

* थारा भ्रमविध्वंसन मांही,
अल्पारम्भी ने स्वर्ग बतायो।

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

अथ इहाँ तो भद्रकालिक घणा गुण कह्या। सहजे क्रोध, माया, लोभ पतला, अल्प इच्छा, अल्प आरम्भ, अल्प करी देवता हुवे छै।

(भ्रम विध्वंसन

अल्पारम्भे महारम्भ नाहीं,
+ यो पिण गुण है वढे ही गायो ॥ च० ॥ ११६ ॥

भावार्थः—इस पर यदि वे (तेरहपन्थी) लोग यह कहें कि—"लाय बुझाने वाला पुरुष अल्पारम्भी है तो आरम्भ चाहे अल्प (थोड़ा) हो या महान् (बहुत) हो हम तो सब आरम्भ को पाप में ही मानते हैं। इसलिए अल्पारम्भी को भी हम पापी ही मानते हैं, धर्मी नहीं।"

उनका उपरोक्त कथन अज्ञानतापूर्ण है। उन्होंने अल्पारम्भ और महारम्भ के भेद को ही नहीं समझा है। अल्पारम्भी पुरुष स्वर्ग में जाता है इसलिए अल्पारम्भ गुण में बतलाया गया है। तेरहपन्थियों के चौथे आचार्य श्री जीतमलजी ने भी भ्रमविध्वंसन नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ८४ में अल्पारम्भ को गुण बतलाया है और इस गुण के कारण अल्पारम्भी पुरुष को स्वर्गगामी बतलाया है। इसलिये तेरहपन्थी लोग 'अल्पारम्भ' को दुर्गुण में नहीं कह [illegible] ॥११७—११६॥

अग्नि थी मरता जीव बच्या रा,
द्वेष थी तुम इहाँ अवला बोलो।
"अल्पारम्भ तो गुण में नाहीं",
सत्य छोड़ियो तुम हिरदा में तोलो ॥ च० ॥ १२० ॥

+ अल्प आरम्भ, अल्प समारम्भ, अल्प इच्छा, कही। तिवारे इम जाणिये जे घणी इच्छा नहीं, ए गुण छै।
(भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ४८)

अल्पारम्भ श्रावक रा गुण बोले,
निरारम्भी साधु रा गुण जाणो।
ते थी साधु श्रावक रो धर्म है जुदो,
दो विध धर्म सूत्र बखाणो ॥ च० ॥ १२१ ॥

भावार्थः—'अल्पारम्भ गुण नहीं है', ऐसा कथन करके उन्होंने सत्य की अवहेलना की है और साथ ही साथ उनके आचार्य जीतमलजी के वचन की भी अवहेलना की है। वास्तव में बात यह है कि उन लोगों को जीवरक्षा से द्वेष है। इसलिए अग्नि में जलते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने में वे पाप बताते हैं। जीवरक्षा से उन्हें इतना तीव्र द्वेष है कि सत्य की अवहेलना करके भी वे लोग जीवरक्षा में पाप बताते हैं।

साधु आरम्भ का सर्वथा त्यागी होता है इसलिए साधु को निरारम्भी कहा है। श्रावक महा-आरम्भ का त्यागी होता है। वह महा-आरम्भ न करके अल्पारम्भ से ही अपना जीवन व्यतीत करता है। इसलिए अल्पारम्भ श्रावक का गुण कहा गया है। साधु और श्रावक का धर्म भिन्न भिन्न है। शास्त्र में आगार धर्म (श्रावक धर्म) और अनगार धर्म (साधु धर्म) इस प्रकार दो धर्म फरमाये गये हैं। इसलिए अल्पारम्भ रूप श्रावक के धर्म को एकान्त पाप में कहना अज्ञानियों का कार्य है ॥१२०-१२१॥

(कहे) " अल्पारम्भ गुण लाय बुझायाँ,
साधु बुझावा ने क्यों नहीं जावे" ।
मन्दमति एवी तर्क उठावे,
ज्ञानी उत्तर इण विध देवे ॥ च० ॥ १२२ ॥

अल्पारम्भ गुण लाय बुझायाँ,
निरारम्भ गुण साधु रो जाणो।
अग्नि-आरम्भ रा त्याग न तोड़े,
मिथ्या तर्क थी न करो ताणो ॥ च० ॥ १२३ ॥

अतिचार टलने व्रत पले जे,
ते काम श्रावक रा धर्म मांही।
साधु करे नहीं त्याँ कामां ने,
ते काम साधु रे कल्प में नाहीं ॥ च० ॥ १२४ ॥

भावार्थः—यदि कोई मन्दबुद्धि ऐसी तर्क करे कि लाय बुझाना अल्पारम्भ रूप गुण है तो साधु लाय क्यों नहीं बुझाते? वे इस अल्पारम्भ रूप गुण की आराधना क्यों नहीं करते? तो इसका उत्तर यह है कि अल्पारम्भ श्रावक का गुण है और साधु का गुण निरारम्भ है। साधु ने महारम्भ और अल्पारम्भ सब प्रकार के आरम्भों का सर्वथा त्याग कर दिया है। इस प्रकार अग्नि के अल्पारम्भ का भी उसने त्याग कर दिया है इसलिए साधु अग्नि-आरम्भ के त्याग को नहीं तोड़ता है। श्रावक ने महारम्भ का त्याग किया है, अल्पारम्भ का नहीं। अपने व्रतों के अतिचारों का निवारण करके जो कार्य श्रावक करता है वह उसके धर्म में है। साधु उन कार्यों को नहीं करता है क्योंकि वह साधु का कल्प नहीं है अर्थात् साधु का गुण निरारम्भ है इसलिए किसी भी प्रकार के आरम्भ का सेवन करना साधु-कल्प (साधु धर्म) के बाहर है। शास्त्र में तीर्थङ्कर भगवान् ने साधु धर्म (अणगार धर्म) और श्रावक धर्म (आगार धर्म) इस प्रकार दो

फरमाये हैं। साधु अपने धर्म का पालन करता है और श्रावक अपने धर्म का पालन करता है। अपने अपने धर्म का पालन करते हुए वे दोनों (साधु और श्रावक) तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के आराधक हैं।

जिस प्रकार लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि हीरा पन्ना आदि जवाहरात का व्यापारी (जौंहरी) महान् लाभ करता है और कपड़े आदि का सामान्य व्यापारी उस जौंहरी की अपेक्षा अल्प लाभ करता है। जौंहरी जवाहरात के महान लाभ के कार्य को छोड़ कर कपड़े आदि के सामान्य लाभ के कार्य को नहीं करता। इसलिए यदि कोई यह दलील दे कि "जौंहरी कपड़े का व्यापार नहीं करता है। अतः कपड़े का व्यापार लाभ का नहीं, घाटे का व्यापार है" तो ऐसी दलील देने वाला मूर्ख कहलाता है उसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि-"साधु जौंहरी के समान है उसका निरारम्भ गुण महान् है। श्रावक कपड़े के व्यापारी के समान है। उसका अल्पारम्भ गुण साधु की अपेक्षा छोटा है। इसलिए यदि कोई यह दलील दे कि—साधु अल्पारम्भ का कार्य नहीं करता है। अतः अल्पारम्भ गुण नहीं है, दुर्गुण (एकान्त पाप) है" तो ऐसी दलील देने वाले को मूर्ख समझना चाहिए।

साधु का धर्म भिन्न है और श्रावक का धर्म भिन्न है। दोनों एक नहीं हो सकते है ॥१२२-१२४॥

"जो साधु न करे ते गृहस्थ रे पाप",
यूँ भोला ने भरमाया काठा।
जो चातुर होय ने ज्वाब पूछे जब,
न टिके मिथ्याती जावे नाठा ॥ च० ॥ १२५ ॥

जो नर पशु श्रावक भूखा राखे,
तो हिंसा लागे पहलो व्रत भागे।
अन्न दियाँ करुणा नहीं जागे,
अतिचार टलवा रो धर्म है सागे ॥ च० ॥ १२६ ॥

साधु रा मातपितादि गृहस्थी,
साधु जिमावे तो दूषण लागे।
गृहस्थी मनुष्यां ने भूखा राखे तो,
दूषण लागे पहला व्रत भागे ॥ च० ॥ १२७ ॥

गृहस्थी गृहस्थी री थापना नहीं देवे,
दूजो तीजो व्रत तिण रो भागे।
'थापण दे दे' साधु न केवे;
पिण गृहस्थ दिया व्रत रेवे सागे ॥ च० ॥ १२८ ॥

इम अनेक बोल साधु रे दूषण,
ते गृहस्थी रे व्रत रक्षा रो ठामो।
(ते थी) गृहस्थ ने साधु रो आचार जुदो,
एक कहे ते मिथ्यात रा धामो ॥ च० ॥ १२९ ॥

भावार्थः—'जो कार्य साधु नहीं करता, वह कार्य यदि श्रावक करे तो उसको पाप लगता है' ऐसी प्ररूपणा करके कितनेक मिथ्यात्वियों ने भोले लोगों को भ्रम में डाल रखा है किन्तु चतुर पुरुष जब इस विषय में उनसे प्रश्न पूछता है तो वे निरुत्तर हो

जाते हैं और जब चर्चा के लिए कहा जाता है तो जिस प्रकार सिंह के सामने शृगाल दुम दबा कर भाग जाता है उस प्रकार वे मिथ्यात्वी लोग भी चर्चा के क्षेत्र को छोड़ कर भाग जाते हैं।

'जो कार्य साधु नहीं करता वह कार्य यदि श्रावक करे तो उसको पाप लगता है' उन्होंने जो यह मिथ्या प्ररूपणा की है उसका खण्डन किया जाता है।

साधु यदि अपने गृहस्थ माता-पिता पुत्र स्त्री आदि सांसारिक परिवार वालों को आहार पानी देता है तो साधु को दूषण लगता है किन्तु यदि श्रावक अपने आश्रित पुत्र स्त्री आदि परिवार के लोगों को एवं आश्रित पशु आदि को आहार पानी न दे तो उसके पहले व्रत में दूषण आता है अर्थात् 'भत्तपाण-विच्छेए' नामक अतिचार लगता है जिससे उसका पहला अहिंसा व्रत टूट जाता है।

इसी प्रकार किसी श्रावक ने किसी श्रावक के पास अपनी थापण (धरोहर) रखी हो, तो साधु तो उसको ऐसी आज्ञा नहीं देते कि "तुम अमुक श्रावक की धरोहर वापिस उसे दे दो" किन्तु श्रावक उसकी धरोहर को वापिस दे दे तो उसके व्रत की रक्षा होती है और धरोहर को वापिस न देने से उसके दूसरे और तीसरे व्रत में दूषण लगता है।

इस प्रकार के ऐसे अनेक कार्य हैं जिनके करने से साधु को दोष लगता है, उसके व्रतों में दूषण आता है किन्तु उन्हीं कार्यों को करने से श्रावक के व्रतों की रक्षा होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे अनेक कार्य हैं जो साधु के लिए दूषण रूप हैं किन्तु वे ही कार्य श्रावक के लिए भूषण रूप हैं इसीलिए

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणा करके वे भोले लोगों को कुपन्थ में डालते हैं। वे स्वयं तो कुपन्थ में पड़कर अनन्त संसार बढ़ाते ही हैं किन्तु साथ में भोले लोगों को भी कुपन्थ में डालकर उनके अनन्त संसार की वृद्धि करते हैं।

'आप डूबे पाँडियो, ले डूबे जजमान'

इस कहावत को चरितार्थ करते हैं।

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणाओं के विषय में जब इनसे (तेरहपन्थी साधुओं से) प्रश्न पूछा जाता है तब प्रश्न का तो कुछ उत्तर नहीं देते किन्तु साधु भेष की शर्म को छोड़ कर निर्लज्जतापूर्वक भांडों की तरह साधुभेष को लज्जित करने वाला व्यर्थ का बकवाद करते हैं ॥१३०-१३१॥

अग्नि थी बलता मनुष्य बचायां,
अग्नि री हिंसा तिण में थावे।
जो इणविध धर्म मनुष्य बचायां,
तिण पर खोटा न्याय बतावे ॥ च० ॥ १३२ ॥

(कहे) "पांच सौ नित्य नित्य जीवां ने मारे,
करे कसाई अनारज कर्मो।
जो मिश्र धर्म हुवे अग्नि बुझायां,
तो इण ने ही मारयां हुवे मिश्र धर्मो॥ च० ॥ १३३ ॥

जो लाय बुझायां जीव बचे तो,
कसाई ने मारयाँ बचे घणा प्राणी।

❀ दोहा ❀

जीव हिंसा छै अति बुरी, तिण में दोष अनेक।
जीवरचा में गुण घणा, सुणजो आणि विवेक ॥ १ ॥

भावार्थ:—जीव हिंसा अति जघन्य है और इसमें अनेक दोष हैं। जीवरचा अति उत्तम है और इसमें अनेक गुण हैं। उन गुणों का किञ्चित् वर्णन यहाँ किया जाता है। अतः हे भव्य जीवो! विवेक पूर्वक श्रवण करो ॥१॥

—: ढाल-नवमी :—

(तर्जः—यो भव रतन चिंतमणि सरिखो)

रक्षा देवी सब सुखदाई,
या मुक्तिपुरी नी साई जी।
साठे नामे दया कही जिन,
दसमा अंग रे माई जी ॥
रक्षा धर्म श्री जिनजी री वाणी ॥ १ ॥

भावार्थः—रक्षा सब प्राणियों को सुख देने वाली है और मोक्ष की सहायिका है अर्थात् मुक्ति देने वाली है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी ने रक्षा के साठ नाम फरमाये हैं। मरते प्राणी की प्राणरक्षा करना यही श्री तीर्थङ्कर भगवान् का परम पवित्र उपदेश है ॥१॥

त्रस थावर रे खेम री कर्त्ता,
अहिंसा दुःख हर्ता जी।
द्वीप तणी परे त्राण शरण या,
गणधर एम उचरता जी ॥ रक्षा० ॥ २ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए द्वीप त्राण शरण रूप होता है उसी प्रकार संसार रूप समुद्र में डूबते

हुए प्राणियों के लिए रक्षा त्राण शरण रूप है। त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के लिए रक्षा क्षेम अर्थात् शान्ति करने वाली है। यह अहिंसा रूप है और समस्त दुःखों को हरण करने वाली है। इस प्रकार गणधर देवों ने शास्त्रों में अनेक गुण वर्णन किये हैं॥२॥

अब प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में आये हुए दया के ६० नामों का कथन किया जाता है:—

निर्वाण[१] निवृ त्ति[२] नाम छै इण रो,
समाधि[३] शक्ति[४] स्वरूपो जी।
कीर्ति[५] जग प्रसिद्ध करता,
कान्ति[६] अद्भुत रूपो जी ॥ रक्षा० ॥ ३ ॥

भावार्थः—(१) निर्वाण—मोक्ष का कारण होने से दया (अहिंसा) निर्वाण कही जाती है। (२) निवृ त्ति—मन की प्रसन्नता, स्वस्थता एवं निश्चिन्तता और दुःखों की निवृत्ति रूप होने से दया को निवृ त्ति कहा जाता है। (३) समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता। (४) शक्ति—मोक्ष गमन की शक्ति देने वाली अथवा परम शान्ति देने वाली होने से दया शक्ति कहलाती है। (५) कीर्ति—यश कीर्ति की देने वाली। (६) कान्ति—तेज प्रताप एवं सौन्दर्य और शोभा को देने वाली होने से दया कान्ति कहलाती है ॥३॥

रति[7] आनन्द रे हेतुपणा थी,

विरति[8] पाप निवरती जी।

श्रुताङ्गा[9] श्रुत ज्ञान थी उपनी,

तृप्त करे ते तृप्ति[10] जी ॥ रक्षा० ॥ ४ ॥

भावार्थः—(७) रति—आनन्ददायिनी होने से दया रति कहलाती है। (८) विरति—पाप से निवृत्त कराने वाली। (९) श्रुताङ्गा—श्रुत अर्थात् ज्ञान ही जिसका अङ्ग है ऐसी यानी श्रुतज्ञान से उत्पन्न होने वाली। (१०) तृप्ति—तृप्ति अर्थात् सन्तोष देने वाली होने से दया तृप्ति कहलाती है ॥४॥

देही री रक्षा थी दया[11] कहीजे,

मुक्ति[12] अने खंती[13] उदारो जी।

समकित[14] नी आराधना सांची,

भव जीवां ! हिरदा में धारो जी ॥ रक्षा० ॥ ५ ॥

भावार्थः—(११) दया—सब प्राणियों की रक्षा रूप होने से यह दया अर्थात् अनुकम्पा कहलाती है। शास्त्रकारों ने दया की बड़ी महिमा बतलाई है और यहाँ तक फरमाया है:—

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं"

अर्थात्—सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए ही भगवान् ने प्रवचन फरमाये हैं अर्थात् जैनागम का कथन किया है।

(१२) मुक्ति (विमुक्ति)—संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त कराने वाली। (१३) क्षान्ति—क्रोध का निग्रह कराने वाली। (१४) सम्यक्त्वाराधना—समकित की आराधना कराने वाली अर्थात् समकित प्राप्ति का मुख्य अङ्ग होने से दया सम्यक्त्वाराधना कही जाती है। अतः समकित की आराधना करने के लिए विशेष दया (अनुकम्पा) करते हैं ॥५॥

सर्व धर्म अनुष्ठान बढावे,
महन्ती[१५] इण रो नामो जी।
बीजा व्रत इण रक्षा रे काजे,
जिन भाखे अभिरामो जी ॥ रक्षा० ॥ ६ ॥

भावार्थः—(१५) महंती (महती)—सब धर्मों का अनुष्ठान रूप होने से दया (अहिंसा) महंती कहलाती है। यथाः—

एक्कं चिय एत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥

अर्थात्—सब तीर्थङ्कर देवों ने प्राणातिपात विरमण अर्थात् अहिंसा (दया) रूप एक ही व्रत मुख्य बतलाया है। शेष व्रत तो उस अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए ही बतलाये गये हैं ॥६॥

जिनधर्म पावे इण परतापे,
ते थी बोधि[१६] कहिये जी।

१७ १८ १९ २० २१
बुद्धि धृति समृद्धि ऋद्धि वृद्धि

२२
स्थिति शाश्वती एथी लहिये जी ॥ रत्ता० ॥ ७ ॥

भावार्थः—बोधि—सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म की प्राप्ति कराने वाली होने से दया (अहिंसा) बोधि रूप है क्योंकि दया अर्थात् अनुकम्पा बोधि यानी समकित का कारण है। (१७) बुद्धि—बुद्धि प्रदायिनी होने से दया (अहिंसा) बुद्धि कहलाती है, क्योंकि कहा है:—

बावत्तरिकला कुसला, पंडिय पुरिसा अपंडिया चेव।
सव्वकलाणं पवरं, जे धम्मकलं न याणंति॥

अर्थात्:—शास्त्र में वर्णित पुरुष की ७२ कलाओं में प्रवीण होते हुए भी जो पुरुष सब कलाओं में प्रधान दया धर्म रूप कला को नहीं जानते, वे अपण्डित ही हैं।

(१८) धृति—चित्त की दृढ़ता देने वाली होने से दया धृति कहलाती है। समृद्धि और ऋद्धि की देने वाली तथा वृद्धि करने वाली होने से दया (१९) समृद्धि (२०) ऋद्धि और (२१) वृद्धि कहलाती है। (२२) स्थिति—शाश्वत स्थिति अर्थात् मोक्ष को देने वाली होने से दया स्थिति कहलाती है॥७॥

२३
पुष्टि पुण्य रो उपचय इण थी,

२४
समृद्धि लावे नन्दा जी।

जीवां रे कल्याण री कर्त्ता,

२५
भद्रा भणे मुनिन्दा जी ॥ रत्ता० ॥ ८ ॥

जीवरक्षा सूत्तर री वाणी,
तो पाप कहो किण लेखे जी ।
अन्तर आँख हिया री फूटी,
ते सूत्र सामो नहीं देखे जी ॥ रक्षा ॥ १३ ॥

भावार्थः—(१३) रक्षा—मरते प्राणियों के प्राणों को बचाना रक्षा कहलाती है।

जो पुरुष ज्ञानी हैं वे इस बात को भली प्रकार समझते हैं कि 'रक्षा' परम धर्म का कार्य है। भारीकर्मा और भोले जीवों को सत्य सिद्धान्त से भ्रष्ट करने के लिए जो लोग 'रक्षा' में पाप बताते हैं उन्हें कुगुरु समझना चाहिए। 'रक्षा' में पाप बता कर वे अपना अनन्त संसार बढ़ाते हैं।

'जीवरक्षा' करना जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है बल्कि जैनागम की रचना ही जीवरक्षा रूप दया के लिए हुई है, जैसा कि प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में कहा है:—

'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं'

अर्थात्:—सम्पूर्ण जगत के जीवों [illegible] रूप [illegible] लिए भगवान ने प्रवचन फरमाये हैं। [illegible]

इस सूत्रपाठ में जीवरक्षा [illegible] होना बतलाया गया है। सूत्र का [illegible] वे ही लोग जीवरक्षा में पाप बता[illegible] हृदय की आँखें फूट चुकी हों और [illegible] देखते हों। जैसे कि सूर्य के प्रकाश [illegible]

इसमें सूर्य का कुछ भी दोष नहीं किन्तु घूघू का ही दोष है इसी तरह जो ऐसे स्पष्ट सूत्रपाठ को नहीं देख सकते तो यह उन्हीं का दोष है सूत्र का कुछ नहीं क्योंकि सूत्रों में तो जगह जगह जीव-रक्षा का विधान किया गया है ॥११-१३॥

सिद्धिआवास[३४] अरु अणासवा,[३५]
केवली केरो स्थानो[३६] जी।
शिव[३७] समिति[३८] सम्यक् परवृत्ति
शील[३९] मन समाधानो जी ॥ रक्षा० ॥ १४ ॥

भावार्थः--दया मोक्ष के अक्षय निवास को देने वाली होने से (३४) सिद्धावास, कर्मबन्ध को रोकने का उपाय होने से (३५) अनास्रव कहलाती है। (३६) केवलीस्थान--दया केवली भगवान का स्थान है अर्थात् केवली प्ररूपित धर्म का मुख्य आधार दया (अहिंसा) ही है इसीलिए दया केवलीस्थान कहलाती है। शिव अर्थात मोक्ष का हेतु होने से (३७) शिव और सम्यक् प्रवृत्ति कराने वाली होने से (३८) समिति तथा चित्त की समाधि रूप होने से दया (३९) शील कहलाती है ॥१४॥

हिंसा उपरति संयम[४०] कहिये,
शील[४१] परिघर जाणो जी।
संवर[४२] गुप्ति[४३] व्यवसाय[४४] नामे,
निश्चय स्वरूप थी जाणो जी ॥ रक्षा० ॥ १५ ॥

भावार्थः—हिंसा की निवृत्ति रूप होने से अहिंसा (दया) संयम कही जाती है। दया (अहिंसा) चारित्र का घर (आश्रय) होने से (४१) शील परिघर, नवीन कर्मों के बन्ध को रोकने वाली होने से (४२) संवर, मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाली होने से (४३) गुप्ति और विशिष्ट अध्यवसाय रूप होने से (४४) व्यवसाय कहलाती है ॥१५॥

उच्छ्रय[४५] भाव उन्नतता समझो,
यज्ञ[४६] भावपूजा देवां री जी।
गुण आश्रय रो स्थानक निर्मल,
आयतन[४७] नाम छै भारी जी ॥ रचा० ॥ १६ ॥

भावार्थः—मन के शुद्ध भावों को उन्नति देने वाली होने से दया (४५) उच्छ्रय, और भाव से देव पूजा रूप होने से (४६) यज्ञ तथा गुणों का स्थान होने से (४७) आयतन कहलाती है ॥१६॥

यजन[४८] अभयदान थी जाणो,
जीवरचा रो उपायो जी।
ते थी यतना इण ने कहिये,
पर्याय नाम कहायां जी ॥ रचा० ॥ १७ ॥
जीव बचायां में पाप बतावे,
ते कुपन्थे पड़िया जी।
परतख पाठ देखे नहीं भोला,
हिरदा मिथ्यात से जड़िया जी ॥ रचा० ॥ १८ ॥

भावार्थः—अभयदान की देने वाली होने से दया (४८) यतना कहलाती है अथवा प्राणियों की रक्षा रूप होने से दया यतना कहलाती है। यतना शब्द जयणा का पर्यायवाची शब्द है। मरते प्राणी की प्राणरक्षा कर उसे मरण भय से मुक्त करना अभयदान है। सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। सूयगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में कहा है कि:—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं' ॥ २३ ॥

अर्थात्:—सब दानों में अभयदान प्रधान है। ऐसा सूत्र का स्पष्ट पाठ है। उस सूत्र पाठ की उपेक्षा कर जो लोग जीवरक्षा एवं अभयदान में पाप कहते हैं वे लोग कुपन्थ में पड़े हुए हैं और उनके हृदय में घोर मिथ्यात्व छाया हुआ है॥१७-१८॥

[४९] प्रमाद अभाव इणी ने कहिये,
आरते धीर बंधावे जी।
आश्वासन छै नाम इणी रो,
सूत्र में गणधर गावे जी ॥ रक्षा० ॥ १९ ॥

भावार्थः—(४९) अप्रमाद (प्रमादअभाव)—प्रमाद का त्याग रूप होने से दया अप्रमाद कहलाती है। (५०) आश्वासन—कष्ट के समय धैर्य बंधाने वाली होने से तथा आश्वासन रूप होने से दया आश्वासन कहलाती है ऐसा सूत्रों में गणधर देवों ने कहा है ॥१९॥

[५१] विश्वास पावे अन्य ने देवे,
दया मपोषी आणो जी।

भयभीत प्राणी ने अभय जो देवे,

[५२]
ते अभय नाम परमाणो जी ॥ रचा० ॥ २० ॥

भावार्थः—(५१) विश्वास—दया भगवती के कारण जीव स्वयं विश्वास को प्राप्त होता है और दूसरों को भी विश्वास दिलाता है इसलिए दया विश्वास कहलाती है। (५२) अभय—जगत् के सब प्राणियों को अभयदान की देने वाली होने से दया 'अभय' कहलाती है ॥२०॥

[५३]
अमाघात ते अमारी कहिये,
श्रेणिक पड़ह पिटायो जी।
दया हीण तो पाप बतावे,
सूत्र रो पाठ उठायो जी ॥ रचा० ॥ २१ ॥

भावार्थः—(५३) अमाघात—किसी भी प्राणी को न मारने रूप होने से दया अमाघात (अमारी) कहलाती है। श्रेणिक राजा ने अपने राज्य में अमारी का पड़ह फिराया था अर्थात् 'किसी भी जीव को मत मारो' ऐसी उद्घोषणा कराई थी। कितनेक दयाहीन लोग इस दया के कार्य में पाप बतलाते हैं वे सूत्र-पाठ के उत्थापक हैं ॥२१॥

[५४] [५५]
चोखा पवित्रा अति ही पावन,
दोनों रो अर्थ एको जी।

५६
भावशुचि सर्व भूत दया थी,
५७
पवित्र पूता देखो जी ॥ रखा० ॥ २२ ॥

अथवा पूजा अर्थ इणी रो,
भाव से देव पूजिजे जी।
द्रव्य सावज पूजा हिंसा में,
ते इह नाय गिणीजे जी ॥ रखा० ॥ २३ ॥

भावार्थः—(५४) चोखा (चोक्षा)—पवित्र होने से दया चोखा कहलाती है। (५५) पवित्रा—पावन पवित्र होने से दया पवित्रा कहलाती है। चोखा और पवित्रा दोनों का समान अर्थ है। (५६) शुचि—भावशुचि रूप होने से दया शुचि कही जाती है। कहा भी है:—

सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम् ॥

अर्थात्:—सत्य, तप, इन्द्रिय निग्रह और सब प्राणियों की दया शुचि है और पाँचवीं जल शुचि कही गई है। उपरोक्त चार भाव शुचि हैं और जल शुचि द्रव्य शुचि है ॥

(५७) पूता—पवित्र होने से दया पूता कही जाती है। पूता का दूसरा नाम पूजा है, जिसका अर्थ है भाव से देव पूजा करना। यहाँ द्रव्य पूजा एवं सावद्य पूजा का ग्रहण नहीं है ॥२२-२३॥

विमल प्रभासा अरु निर्मलतर,

साठ नाम प्रभु भाख्या जी।

प्रवृत्ति और निवृत्ति रे योगे,

भिन्न भिन्न नाम ये दाख्यां जी ॥ रक्षा० ॥ २४ ॥

नहीं हणनो निवृत्ति जाणो,

परवरति गुण रक्षा जी।

प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ओलखाया,

यां नामां री दीनी शिक्षा जी ॥ रक्षा० ॥ २५ ॥

भावार्थ—(५८) विमला—निर्मल, स्वच्छ होने से दया विमला कहलाती है। (५९) प्रभासा—दीप्ति रूप होने से दया प्रभासा कही जाती है। (६०) निर्मलतरा—जीव को अति निर्मल बनाने वाली होने से दया निर्मलतरा कही जाती है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति की अपेक्षा से दया के ये साठ नाम कहे गये हैं अर्थात् किसी भी जीव को न मारना निवृत्ति रूप दया है और मरते हुए प्राणी की रक्षा करना प्रवृत्ति रूप दया है। इस प्रकार इन साठ नामों द्वारा प्रवृत्ति रूप दया और निवृत्ति रूप दया इन दोनों का स्वरूप बतलाया गया है ॥२४-२५॥

त्रिविधे त्रिविधे छः काय न हणनी,

इण ने तो धर्म बतावे जी।

त्रिविधे त्रिविधे जीव रक्षा करण में,

पाप कहि धर्म लजावे जी ॥ रक्षा० ॥ २६ ॥

भावार्थः—तीन करण तीन योग से किसी जीव को न मारना, इस कार्य में तो जो धर्म बताते हैं किन्तु तीन करण तीन योग से जीवरक्षा करने में पाप बताते हैं वास्तव में उन लोगों ने दया का स्वरूप ही नहीं पहचाना है। जीवरक्षा में पाप कह कर वे धर्म को लज्जित करते हैं ॥२६॥

नहीं हणनो ने रक्षा करणी,
ते प्रभु आज्ञा आराधी जी।
या ही बात सभा में परूपे,
वीर कह्या न्याय वादी जी ॥ रक्षा० ॥ २७ ॥

भावार्थः—किसी भी जीव को न मारना और मरते हुए प्राणी की रक्षा करना यही दया का सच्चा स्वरूप है। जो पुरुष इस प्रकार की दया का पालन करता है वह जिन-आज्ञा का आराधक है। और सभा में भी जो दया के इसी स्वरूप का उपदेश देता है वह सत्यवादी एवं न्यायवादी है ऐसा वीर भगवान् ने फरमाया है ॥२७॥

प्राणी भूत जीव सत्व री,
अनुकम्पा कोई करसी जी।
साता वेदनी कर्म ते बांधे,
पुण्यश्री ते वरसी जी ॥ रक्षा० ॥ २८ ॥

भावार्थः—जो कोई व्यक्ति प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की अनुकम्पा करेगा उसके साता वेदनीय कर्म का बन्ध होगा और महान् पुण्य का लाभ होगा।

विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राणी कहते हैं। वनस्पति काय को भूत कहते हैं। पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को जीव कहते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय इन चार स्थावर जीवों को सत्त्व कहते हैं। इन सब की अनुकम्पा करना प्राणी भूत जीव सत्त्व की अनुकम्पा कहलाती है ॥२८॥

भय पाया न शरणो देवे,
दया जीव विश्रामो जी।
पंखी[२] गगन तिसिया[३] ने पाणी,
भूखो[४] भोजन रे ठामो जी ॥ रचा० ॥ २९ ॥

जहाज समुद्र तिरण उपकारी,
चौपद[६] आश्रम थानो जी।
रोगी[७] औषध बल सुख पावे,
अटवी[८] साथ प्रमाणो जी ॥ रचा० ॥ ३० ॥

भावार्थ:—दया माता (अहिंसा भगवती) को आठ उपमाएं दी गई हैं:—

(१) भयभीत प्राणियों के लिए जिस प्रकार शरण का आधार होता है उसी प्रकार संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों के लिए दया (अहिंसा) आधार भूत है।

(२) जिस प्रकार पक्षियों के गमन के लिए आकाश का आधार है उसी प्रकार भव्य जीवों को दया का आधार है।

(३) प्यासे पुरुष को जैसे जल का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को दया का आधार है।

(४) भूखे पुरुष को जैसे भोजन का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को दया का आधार है।

(५) समुद्र में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार जहाज या नौका का आधार है उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में चक्कर खाते हुए प्राणियों को दया का आधार है।

(६) जिस प्रकार पशु को खूंटे का, (७) रोगी को औषधि का और (८) अटवी (जंगल) में मार्ग भूले हुए पथिक को किसी के साथ का आधार होता है उसी प्रकार संसार में कर्मों के वशीभूत होकर नाना गतियों में भ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए दया का आधार है। त्रस स्थावर सभी प्राणियों के लिए दया (अहिंसा) क्षेमंकरी अर्थात् हितकारी है। इसलिए इसे भगवती कहा गया है ॥२९-३०॥

आठाँ थी अधकी अहिंसा,
सूत्तर पाठ पिछाणो जी।
थोड़ो थोड़ो गुण आठ में दाख्यो,
सम्पूर्ण रक्षा में जाणो जी ॥ रक्षा० ॥ ३१ ॥

अंश तो रक्षा आठाँ में होवे,
ते एक देश दया जाणो जी।
सब अंश रक्षा सर्व दया में
उत्कृष्ट इण ने पिछाणो जी ॥ रक्षा० ॥ ३२ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में दया की उपरोक्त आठ उपमाएं कही गई हैं। वहाँ दया को इन आठों से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है क्योंकि इन आठों में एक अंश रक्षा है और दया में सर्व अंश रक्षा है। इसलिए दया इन आठों से उत्कृष्ट है ॥३१-३२॥

सब जीव खेमकरी कही इण ने,
मूल पाठ रे मांई जी।
रक्षा खेम रो अर्थ ही परगट,
ते थी रक्षा धर्म सुखदाई जी ॥ रक्षा० ॥ ३३ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के मूल पाठ में दया (अहिंसा) को सब जीवों के लिए 'क्षेमंकरी' बतलाया है। क्षेम का अर्थ 'रक्षा' होता है। इसलिए 'रक्षा' सब जीवों के लिए सुखदायिनी है ॥३३॥

जीव रक्षा-रा द्वेषी वेषी,
रक्षा में पाप बतावे जी।
दया दया तो मुख से बोले,
देहीरक्षा दया उठावे जी ॥ रक्षा० ॥ ३४ ॥

भावार्थः—साधु का भेष पहन कर भी जो जीवरक्षा से द्वेष रखते हैं ऐसे वेषधारी साधु का नाम धराने वाले 'जीवरक्षा' में पाप बताते हैं। वे मुख से तो दया दया कहते हैं किन्तु मरते प्राणी की प्राण रक्षा करने में पाप बता कर वे जीवों की रक्षा को उठाते हैं ॥३४॥

माहण माहण कह्यो अरिहंता,
मत मार कह्यां नहीं पापो जी ।
अन्तर नयन हिया रा फूटा,
मत मार में पाप री थापो जी ॥ रक्षा० ॥ ३५ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि हिंसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिए 'मत मार' कहना मरते जीव पर राग लाना है। किसी जीव पर राग लाना साधु को उचित नहीं है। अतः मारे जाते हुए जीव की प्राणरक्षा करने के लिए साधु को 'मत मार' यह उपदेश न देना चाहिए। 'मत मार' कहने में पाप लगता है। इस प्रकार 'मत मार' कहने में वे लोग पाप की स्थापना करते हैं किन्तु उनका यह कथन शास्त्र विरुद्ध है। तीर्थङ्कर भगवान् ने शास्त्रों में साधु को 'माहण' कहा है। माहण शब्द का अर्थ यह है—'मा—मत, हण-मार' अर्थात् जो 'मत मार' ऐसा उपदेश देते हैं वे 'माहण' कहलाते हैं। अतः जो लोग 'मत मार' कहने में पाप की स्थापना करते हैं वे तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा के उत्थापक हैं ॥३५॥

(कहे) "रक्षा करताँ प्राणी मर जावे,
रक्षा में पाप बतावाँ जी ।
जो धर्म कारज में हिंसा होवे,
ते धर्म ने पाप में गावाँ जी" ॥
चतुर सत्य रो निर्णय कीजे ॥ ३६ ॥

भावार्थः—यदि वे लोग यह कहें कि मरते प्राणी की प्राणरक्षा करने में दूसरे जीवों की हिंसा हो जाती है। इसलिए

हम रक्षा में पाप बताते हैं, क्योंकि जिस धर्म कार्य को करते समय थोड़ी सी भी हिंसा हो जाय तो हम उस धर्म कार्य में पाप कहते हैं। इसी कारण से हम जीवरक्षा में पाप कहते हैं। इसके लिए उन्होंने कुछ दृष्टान्त दिये हैं। जैसे कि—एक आदमी भूख से मर रहा है, किसी ने उसे गाजर मूली आदि जमीकन्द खिला कर उसकी रक्षा कर दी। एक जीव की रक्षा करने के लिये उसने जमीकन्द के अनन्त जीवों की हिंसा कर दी। इसलिए मरते प्राणी की रक्षा करना पाप है।

एक गाय प्यास से मर रही थी। किसी ने उसको पानी पिला कर उसकी रक्षा कर दी। एक जीव की रक्षा करने में उसने पानी के असंख्य जीवों की हिंसा कर दी। इसलिए रक्षा करना पाप है।

इस प्रकार के दृष्टान्त देकर वे जीवरक्षा में पाप की स्थापना करते हैं और भोले जीवों को भ्रम में डालते हैं ॥३६॥

जिण रक्षा में जीव मरे नहीं,
केवल जीवां री रक्षा जी।
तिण में थें पाप बतावो,
तो खोटी थाँरी शिक्षा जी ॥ चतुर० ॥ ३७ ॥

भावार्थः—उन्होंने जो यह पक्ष स्थापित किया था कि 'जिस धर्म के कार्य में थोड़ी भी हिंसा हो जाय उस कार्य को हम पाप में मानते हैं' परन्तु वे अपने इस पक्ष पर भी स्थिर नहीं रहते। जिस रक्षा में किसी भी जीव की हिंसा नहीं होती उस रक्षा को तो उन्हें धर्म में मानना चाहिए किन्तु वे उसमें भी पाप ही

बताते हैं। जैसे कि उन्होंने ऊपर एक भूखे आदमी का और एक प्यासी गाय का दृष्टान्त दिया है उनकी रक्षा इस तरह की जायः— भूख से मरते हुए आदमी को किसी दयालु ने रोटी या भुंगड़े (भूने हुए अचित्त चने) खिला कर उसकी रक्षा कर ली और प्यास से मरती हुई गाय को किसी दयालु ने छाछ या धोवण पिला कर उसकी रक्षा कर ली। अब उन भीषण मतानुयायियों से पूछना चाहिए कि—उपरोक्त दोनों कार्यों में किसी भी जीव की हिंसा नहीं हुई। इस अनुकम्पा में तुम धर्म मानते हो या पाप ?

उन भीषण मार्गानुयायियों को तो अनुकम्पा से उतना ही भीषण (भयंकर) द्वेष है जितना कि एक क्रूर पापी कसाई को जीवरक्षा से होता है। इनकी भीषण मान्यताओं को सुन कर लोग आश्चर्य करने लगते हैं और कहने लगते हैं कि दया और दान को उठा देने वाली इस भीषण पन्थ (तेरहपन्थ) की मान्यताएँ संसार के प्राणियों के लिए उतनी ही भीषण (भयंकर) हैं जितनी कि एक क्रूरकर्मा दुष्ट कसाई की छुरी बकरे के लिये होती है। एक क्षण के लिये कल्पना कीजिये कि यदि यह भीषण पन्थ सारे संसार में फैल जाय और सारे लोगों के हृदय से दया उठ जाय तो संसार के समस्त प्राणियों का सर्वनाश होने में कितनी देर लगेगी ? और उस समय यह पन्थ इसके अनुयायियों के लिए भी क्या सचमुच वैसा भीषण न बन जायगा जैसी कि कसाई की छुरी बकरे के लिए भीषण होती है ? इस पन्थ की कुछ भीषण मान्यताओं का नमूना देखियेः—

(१) गायों से भरे हुए बाड़े में यदि आग लग जाय और कोई दयावान् पुरुष उस बाड़े के द्वार को खोल कर गायों की रक्षा करे तो उसे तेरहपन्थी एकान्त पापी कहते हैं।

(२) भार से लदी हुई कोई गाड़ी आ रही है और मार्ग में कोई बालक सोया हुआ है इस बालक को कोई दयावान् पुरुष उठा लेवे तो इस कार्य को तेरहपन्थ सम्प्रदाय एकान्त पाप बतलाता है।

(३) तीन मंजिल पर से कोई बालक गिरता हो उसको बीच में ही झेल कर बचाने वाले दयावान् पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पाप करने वाला बताते हैं।

(४) पञ्च महाव्रतधारी साधु के गले में किसी दुष्ट के द्वारा लगाई हुई फांसी को यदि कोई दयालु पुरुष खोल देवे तो उसमें तेरहपन्थी एकान्त पाप होना बतलाते हैं।

(५) कसाई आदि हिंसक प्राणी के हाथ से मारे जाते हुए बकरे आदि की प्राणरक्षा करने के लिए यदि कोई कसाई को नहीं मारने का उपदेश देवे तो तेरहपन्थी उसे एकान्त पाप कहते हैं।

(६) किसी गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जानवर आ गया हो तो उसको बतलाने वाले दयावान् पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पाप होना कहते हैं।

(७) तेरहपन्थ के साधुओं के सिवाय दूसरे को दान देना मांस भक्षण, मद्यपान, और वेश्यागमन के समान एकान्त पाप तेरहपन्थी बतलाते हैं।

(८) तेरहपन्थ के साधुओं के सिवाय संसार के सभी प्राणियों को तेरहपन्थी 'कुपात्र' कहते हैं।

(९) पुत्र अपने माता-पिता की और स्त्री अपने पति की सेवा शुश्रूषा करे तो इस कार्य को तेरहपन्थी एकान्त पाप कहते हैं।

(१०) कोई दुष्ट पुरुष किसी पतिव्रता सती स्त्री के सतीत्व को नष्ट करना चाहता है। कोई पुरुष उस स्त्री के, (चाहे वह तेरह पन्थ सम्प्रदाय की श्राविका या साध्वी ही क्यों न हो) सतीत्व को बचा दे तो उस सतीत्व की रक्षा करने वाले पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पापी कहते हैं उसे अन्तराय देने वाला मानते हैं। जैसा कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में लिखा है:—

भोगी ना कोई भोगज रूंधे,
वली पाड़े अन्तराय रे।
महा मोहनी कर्म जो बांधे,
दशाश्रुत में बतायो रे॥

इनके कहने का तात्पर्य यह है कि पतिव्रता सती पर बलात्कार करने वाले उस पुरुष को रोकने से उस पुरुष के भोग में अन्तराय पड़ती है। इसलिए उसके सतीत्व की रक्षा करने वाले पुरुष के महामोहनीय कर्मबन्ध होता है।

(११) किसी गृहस्थ के घर में आग लग गई हो और गृहस्थ का परिवार घर का द्वार बन्द होने के कारण बाहर नहीं निकल सकता हो किन्तु घर के भीतर आग में जलते हुए मनुष्य स्त्री और बच्चे आदि आर्त्तनाद करते हों तो उस घर का द्वार खोल कर उन प्राणियों की रक्षा करने वाले को तेरहपन्थी एकान्त पाप करने वाला कहते हैं और उस घर का द्वार नहीं खोलना धर्म बताते हैं।

तेरहपन्थ के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रमविध्वंसन' 'भिक्षुयशरसायन' 'शिशु हित शिक्षा' 'अनुकम्पा की ढालें' और 'बारह व्रत की ढालें' इन ग्रन्थों में शास्त्र और लोक विरुद्ध ऐसी अनेक मान्य-

बड़ी हिंसा (महा-आरम्भ) को छोड़ता है, दूसरों से छुड़वाता है और छोड़ने वालों को भला जानता है। इस मार्ग को ज्ञानी शुद्ध कहते हैं। जिसने छोटी के योग से बड़ी हिंसा का त्याग कर दिया है अर्थात् अल्पारम्भ के योग से महारम्भ का त्याग कर दिया है तो उसका वह महारम्भ का त्याग धर्म में है। उस महारम्भ के त्याग में पाप बताना अज्ञानियों का कार्य है ॥४४-४५॥

पञ्चेन्द्रिय मारे मांस रे अर्थे,
तेनी हिंसा छोड़ावे अनेको जी।
अचित दिया में पाप परूपे,
ते डूबे छै बिना विवेको जी ॥ चतुर० ॥ ४६ ॥

भावार्थः—कोई भूखा मांसाहारी पुरुष अपनी भूख मिटाने के लिए किसी बकरे आदि पञ्चेन्द्रिय जीव को मार रहा है। कोई दयालु पुरुष उसकी हिंसा छुड़ा कर बकरे की रक्षा कर देता है औ मुंगड़े (भूने हुए चने), रोटी आदि अचित्त पदार्थ देकर उसकी भूख मिटा देता है तो उसका यह कार्य धार्मिक कार्य है इस कार्य में जो पाप बताता है, उसे विवेकविकल समझना चाहिए। उसे धर्म और अधर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं है। ऐसा विवेक भ्रष्ट पुरुष अनन्त काल तक संसार समुद्र में डुबकियाँ लगाता हुआ नरक निगोदादि के असह्य दुःखों को भोगता रहता है ॥४६॥

जीव बचायाँ में पाप कहे छै,
कुयुक्ति लगावे खोटी जी।

तें रक्षा रा द्वेषी अनार्य यूँ बोले,
राखण आपणी रोटी जी ॥ चतुर० ॥ ४७ ॥

भावार्थः—मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने में जो पाप कहता है और अपने इस मिथ्या सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिए अनेक प्रकार की कुयुक्तियाँ लगाता है वह रक्षाधर्म का द्वेषी अनार्य पुरुष है। उसमें साधुता तो नाम मात्र को भी नहीं है केवल रोटी का टुकड़ा मांग कर अपनी पेट भराई करने के लिए उसने साधु का भेष पहन रखा है। अतः विवेकी पुरुषों को ऐसे अनार्य, ढोंगी का संग भी न करना चाहिए ॥४७॥

अनुकम्पा-दान में पाप परूपे,
त्यां री जीभ वहे तरवारो जी।
पहरण सांग साधाँ रो राखे,
धिक त्याँ रो जमवारो जी ॥ चतुर० ॥ ४८ ॥

भावार्थः—हीन, दीन, अनाथ, गरीब प्राणियों पर अनुकम्पा करके जो दान दिया जाता है उस अनुकम्पा दान में पाप बतलाने वाले पुरुष की जीभ तलवार के समान है अर्थात् जिस प्रकार कसाई की तलवार बकरे आदि प्राणियों के प्राणों का हरण करती है उसी प्रकार अनुकम्पा दान में पाप बतलाने वाले पुरुष की जीभ भी उन दीन, हीन, अनाथ, गरीब प्राणियों के लिए तलवार का कार्य करती है। उन गरीबों के दान में बाधक होकर वह पुरुष उनकी घात का भागी होता है। कसाई तो बकरे आदि तिर्यञ्चों की ही हिंसा करता है किन्तु अनुकम्पा दान में पाप बताने वाला पुरुष तिर्यञ्च और गरीब मनुष्यों के दान में

बाधक बन कर तिर्यञ्च और मनुष्य दोनों की हत्या का भागी बनता है। इसलिए यह कसाई से भी बढ़ कर निर्दयी है। ऐसा निर्दयी होकर भी जो लोगों को धोखे में डालने के लिए साधु का स्वाङ्ग रच कर फिरे उस पुरुष का जन्म बारबार धिक्कार के योग्य है क्योंकि ऐसा पुरुष अपने जन्मदाता माता पिता को भी धिक्कार दिलवाता है। इसलिए ऐसे पुत्र का न जन्मना तो अच्छा है किन्तु जो जन्म लेकर माता को धिक्कार दिलावे ऐसे कुपुत्र का जन्म भी धिक्कार योग्य है ॥४८॥

साधु रो विरुद धरावे लोकों में,
बाजे भगवन्त भक्ता जी।
जीव रक्षा में पाप बतावे,
तीन व्रत भागे लगता जी ॥ चतुर० ॥ ४६ ॥

जीव बचाया में पाप परूपे,
ते जीव दया ने त्यागे जी।
तीन काल री रक्षा ने निन्दी,
पहिलो महाव्रत भागे जी ॥ चतुर० ॥ ५० ॥

रक्षा में पाप तो जिनजी कह्यो
पाप कह्यां झूठ लागे जी।
इसड़ा झूठ निर...
त्याँ री दूजो

जीव बचाया पाप जो केवे,
वां जीवाँ री चोरी लागे जी ।
वलि आज्ञा लोपी श्री अरिहंत नी,
तीजो महाव्रत भागे जी ॥ चतुर० ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जो अपने आपको भगवान् श्री वीतराग देव का भक्त मानता है और लोगों में अपने आपको साधु कहता है यदि वह जीवरक्षा में पाप बतलाता है तो उसके तीन महाव्रत भग्न होते हैं। तीन महाव्रत किस प्रकार भग्न होते हैं सो बतलाया जाता हैः—

जीवरक्षा में पाप बतलाने से साधु स्वयं जीवरक्षा को त्याग देता है तथा तीनों काल सम्बन्धी रक्षा की वह निन्दा करता है इसलिए उसका पहला अहिंसा महाव्रत टूट जाता है। अहिंसा का अर्थ है—"किसी जीव को न मारना और मरते हुए प्राणी की रक्षा करना" अहिंसा के जो साठ नाम बताये गये हैं वे निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के सूचक हैं अर्थात् किसी जीव को न मारना यह निवृत्ति रूप अहिंसा है और मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करना यह प्रवृत्ति रूप अहिंसा है।

श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने जीवरक्षा में पाप नहीं बतलाया है। इसलिए जो साधु जीवरक्षा में पाप बतलाता है उसे मृषावाद (झूठ) का दोष लगता है जिससे उसका दूसरा सत्य महाव्रत टूट जाता है।

जो साधु जीवरक्षा में पाप बतलाता है उसे रक्षा किये जाने वाले जीवों के अदत्त प्राणापहरण रूप चोरी लगती है और वह तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करता है इसलिए उसका अदत्तादान त्याग रूप तीसरा महाव्रत टूट जाता है।

इस प्रकार जीवरक्षा में पाप बतलाने वाले साधु के पहला, दूसरा और तीसरा ये तीनों महाव्रत एक साथ टूट जाते हैं ॥४६-५२॥

जीव बचावा में पाप बतावे,
ज्याँ री श्रद्धा घणी छै गन्धी जी।
ते मोह मिथ्यात में जड़िया अज्ञानी,
त्याँ ने श्रद्धा न सूझे सूँधी जी ॥चतुर०॥ ५३ ॥

भावार्थः—जो लोग जीव बचाने में पाप बताते हैं उनकी यह श्रद्धा अत्यन्त गन्दी है। वे जीव गाढ मिथ्यात्व मोहनीय से जकड़े हुए हैं इसीलिए उन बिचारे अज्ञानी जीवों को शुद्ध श्रद्धा नहीं सूझती है ॥५३॥

पूछयां कहे म्हें दयाधर्मी छाँ,
दया तो देही री रक्षा जी।
तिण रक्षा में पाप बतावो,
थें दया री न पाया शिक्षा जी॥ चतुर० ॥ ५४ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार यदि अशुभ कर्मोदय से किसी का नाक कट जाय तो वह नकटा पुरुष वास्तव में दया का पात्र है किन्तु इस पर भी वह नकटा यह कहे कि 'मैं तो बड़ी सुन्दर नाक वाला हूँ, मेरे तो बहुत अच्छी लम्बी नाक है' तो उसका यह कथन क्या धृष्टतापूर्ण नहीं ? इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीवरक्षा सरीखे धर्म कार्य में पाप बताने वाले बिचारे अज्ञानी जीव सचमुच दया के पात्र हैं किन्तु फिर भी वे अपने आपको दयाधर्मी कहें तो क्या उनका यह कथन

धृष्टता पूर्ण नहीं है ? दया नाम है प्राणियों की रक्षा करना। उस 'रक्षा' में जो पाप बताते हैं वे दयाधर्मी कैसे कहला सकते हैं ? जो दया-रक्षा में धर्म मानें वे ही दयाधर्मी कहला सकते हैं। जो दया-रक्षा में पाप बताते हैं उन्हें तो 'दया पापी' या 'दया उत्थापक' कहना चाहिये। कुगुरुओं के चक्कर में पड़ जाने से उन्हें दया-रक्षा की सच्ची शिक्षा नहीं मिली है ॥५४॥

जीवरक्षा ने दया नहीं माने,
ते निश्चय दया रा घाती जी।
त्यां दया हीन ने साधु श्रद्धे,
ते पिण निश्चय मिथ्याती जी ॥ चतुर० ॥ ५५ ॥

भावार्थः—जो जीवरक्षा रूप दया में पाप बतलाता है वह दया की घात करने वाला है ऐसे दयाघाती को जो साधु मानता है वह मिथ्यात्वी है क्योंकि मिथ्यात्व के दस भेदों में बतलाया गया है कि—"असाधु को साधु श्रद्धे (माने) तो मिथ्यात्व।" जो जीवरक्षा में पाप बताता है उसमें साधुत्व (साधुपना) तो हो ही कैसे सकता है ? ऐसे असाधु को जो साधु श्रद्धता है वह मिथ्यात्वी है ॥५५॥

(कहे) "साधु ने जीव बचावणो नाहीं,
रक्षा ने भली न जाणेजी।"
ते रक्षा धर्म रा अजाण अज्ञानी,
इसड़ी चरचा आणे जी ॥ चतुर० ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जो साधु का वेष पहन कर यह कहता है कि

कर्मबन्ध टलाने का कार्य समान है इसलिए दोनों के कर्मबन्ध टलाने के कार्य में उन लोगों को धर्म मानना चाहिए। एक के कर्मबन्ध टलाने में धर्म मानना और दूसरे के कर्मबन्ध टलाने में पाप मानना, युक्ति संगत नहीं है ॥५७-६०॥

(कहे) छ काया रा शस्त्र जीव अव्रती,
जीवणो मरणो न चावे जी।
तो पाणी थी उन्दर माखा काढो,
थारी श्रद्धा खोटी थावे जी ॥ चतुर० ॥ ६१ ॥

भावार्थ:—वे लोग कहते हैं कि जो जीव अव्रती हैं वे छः काया के शस्त्र हैं उनका जीना और मरना हम नहीं चाहते हैं। तब उन लोगों से पूछना चाहिये कि तुम अपने (भीषण मतानुयायी साधुओं के) जल के पात्र में पड़ी हुई मक्खी तथा चूहे आदि को बाहर निकाल कर क्यों बचाते हो? क्योंकि जीवों की रक्षा करने से तुम्हारी श्रद्धा में दोष आता है ॥६१॥

(कहे) "म्हें तो जीवणो मरणो न चावाँ,
पाप टालणो चावाँ जी।
(उत्तर) तो जीवरक्षा पिण पाप टालण में,
स्व-पर नो पाप बचावां जी ॥ चतुर० ॥ ६२ ॥

भावार्थ:—इस पर यदि वे लोग यह कहें कि 'हम तो हमारे पात्र में पड़ी हुई मक्खी चूहे आदि जीवों का जीना मरना नहीं चाहते हैं और न उनकी रक्षा करना ही चाहते हैं किन्तु यदि वे हमारे पात्र में मर जाँय तो हमें पाप लगता है इसलिए हम

अपना पाप टालने के लिए उन्हें बाहर निकालते हैं तो उनसे कहना चाहिए कि जीवरक्षा भी पाप टालने में ही है। जिस प्रकार अपना पाप टाला जाता है उसी प्रकार मरने वाले जीव की रक्षा करने से उसका भी आर्त्तरौद्रध्यान सम्बन्धी पाप टल जाता है। इस प्रकार जीव रक्षा करने से स्व और पर दोनों का पाप टल जाता है। इसलिए जीवरक्षा में पाप बताना अज्ञानता है। ॥६२॥

मारण ने मरणे वाला रो,
पाप छोड़ावाँ बचावाँ जी।
मरणे वाला री दया किया सूं,
घातक रा पाप छुड़ावाँ जी ॥ चतुर० ॥ ६३ ॥

भावार्थः—हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी को बचाने से उसकी प्राणरक्षा हो जाती है और हिंसक हिंसा के पाप से बच जाता है। इस प्रकार जीवरक्षा से दुगुना लाभ है। जीवरक्षा करने से उस मारे जाने वाले प्राणी का और हिंसक का दोनों का पाप टल जाता है॥ ३॥

जीव गरीब अनाथ दुखी री,
अनुकम्पा जिनजी बताई जी।
त्याँ ने बचावा में पाप बतावे,
या श्रद्धा दुखदाई जी ॥ चतुर० ॥ ६४ ॥

भावार्थः—गरीब, दीन, अनाथ दुःखी प्राणियों पर अनुकम्पा करना तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है इसलिए उन पर

है तो उसका यह कथन मिथ्या है क्योंकि 'जीवों को न मारना' इतना ही अहिंसा का अर्थ नहीं है। यह अर्थ अधूरा है। किसी जीव को न मारना और मरते हुवे जीव की रक्षा करना यह अहिंसा का पूर्ण अर्थ है और इसीलिए मुनि अहिंसक एवं रक्षक कहलाता है ॥६८॥

मरता जीव ने कोई बचावे,
ज्याँ में पाप बतावे जी।
ते पाप बतायाँ समकित नासे,
ज्याँ रा मूल उत्तर व्रत जावे जी ॥ चतुर० ॥६९॥

भावार्थः—मरते प्राणी की प्राणरक्षा करने में जो पाप बतलाता है। उसके समकित गुण का नाश होता है क्योंकि श्री तीर्थङ्कर देवों ने जीवरक्षा में धर्म बतलाया है। उनके कथन के विपरीत श्रद्धान करने से यानी जीवरक्षा में पाप बताने से समकित गुण का नाश होकर मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। जिसमें समकित गुण नहीं है उसमें मूल गुण और उत्तर गुण तो पाये ही कैसे जा सकते हैं? उसके समकित गुण के विनाश के साथ ही उसके मूलगुण और उत्तरगुणों का भी विनाश हो जाता है ॥६९॥

(जो कहे) त्रिविधे त्रिविधे जीवरक्षा न करणी,
तो हिंसक री हिंसा छोड़ायाँ जी।
मरता जीवाँ री रक्षा होसी,
थारी श्रद्धा सूं पाप कमाया जी ॥ चतुर० ॥ ७० ॥

भावार्थः—जो लोग यह कहते हैं कि "तीन करण तीन योग से जीवरक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जीवरक्षा करना पाप है।" उनकी इस मान्यतानुसार उन्हें हिंसक को उपदेश देकर उसकी हिंसा छुड़ाने से भी पाप लगेगा क्योंकि मान लीजिये उनका उपदेश सुनकर यदि हिंसक हिंसा छोड़ देगा अर्थात् जीवों को न मारेगा तो उन जीवों की रक्षा हो जायगी और रक्षा करने में तो वे पाप मानते हैं ऐसी दशा में उपदेश द्वारा हिंसक की हिंसा छुड़ाने से भी वे अपनी मान्यतानुसार पाप के भागी होंगे ॥७०॥

बीच में पड़ पाप नाय छोड़ावणो,
　इसड़ो थें धर्म बतावो जी।
तो हिंसक पाप करे तिण बीच में,
　उपदेश देण क्यों जावो जी ॥ चतुर० ॥ ७१ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि 'तुम लोग ऐसा कहते हो कि—यदि कोई पाप कर रहा हो तो उसके बीच में न पड़ना चाहिए अर्थात् उसे न रोकना चाहिए। जैसा कि तुम लोग उदाहरण देते हो कि 'यदि कोई बिल्ली चूहे को मारने के लिए झपटती हो तो उसे नहीं रोकना चाहिए।' जब यह तुम प्ररूपणा करते हो तब हिंसक जो पाप कर रहा है उसे उपदेश क्यों देते हो? उसके बीच में पड़ कर उसे पाप करने से क्यों रोकते हो? ॥७१॥

छः कारण जीवहिंसा करे कोई,
　अहित अबोध ते पावे जी।

जीवरक्षा थी समकित पावे ।
अहित त्रिकाल न थावे जी ॥ चतुर० ॥ ७२ ॥

भावार्थः—शास्त्र में कहा गया है कि छः कारणों से की गई जीव हिंसा अहित और अबोधि के लिए होती है अर्थात् जीव हिंसा से अहित होता है और अबोधि यानी समकित का नाश होता है किन्तु जीवरक्षा से कदापि त्रिकाल में भी अहित नहीं होता है ॥७२॥

जीवहिंसा प्रभु खोटी बताई,
कर्मों री गांठ बंधावोजी ।
जीवरक्षा प्रभु आछी भाखी,
कर्मबन्ध खपावेजी ॥ चतुर० ॥ ७३ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् ने जीव हिंसा को बुरा बतलाया है। जीव हिंसा से कर्मों का बन्ध होता है किन्तु जीवरक्षा को तीर्थङ्कर भगवान् ने अच्छा बतलाया है। जीवरक्षा से कर्मों का क्षय होता है ॥७३॥

हिंसा माहीं धर्म श्रद्धे तो,
बोध बीज रो नाशो जी ।
जीवरक्षा में पाप बतावे,
मिथ्यात में होवे वासो जी ॥ चतुर० ॥ ७४ ॥

भावार्थः—यदि कोई जीव हिंसा में धर्म माने तो उसके सम्यक्त्व रत्न का नाश होता है और जो पुरुष जीवरक्षा में पाप

बताता है वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है क्योंकि मिथ्यात्व के दस भेदों में बताया गया है कि:—

'धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व'।

जीवरक्षा धर्म का कार्य है। अतः उसमें अधर्म (पाप) मानने वाला मिथ्यात्व को प्राप्त होता है ॥७४॥

प्राणी जीवने दुःख जो देवे,
ते दुःख पामे संसारो जी।
अनुकम्पा कर दुःख छुड़ावे,
सुख पावा रो विस्तारो जी ॥ चतुर० ॥ ७५ ॥

भावार्थः—प्राणी भूत जीव सत्त्व को जो दुःख देता है वह इस संसार में दुःख पाता है और जो पुरुष प्राणी भूत जीव सत्त्व की अनुकम्पा कर उनको दुःख से छुड़ाता है वह सुख पाता है। श्री भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा ६ में वेदनीय कर्म उपार्जन करने के दस बोल कहे गये हैं। उनमें पहले के चार बोल ये हैं:—

(१) प्राणियों की अर्थात् बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्राणियों की अनुकम्पा करने से,
(२) भूत अर्थात् वनस्पतिकाय की अनुकम्पा करने से,
(३) जीवों की अर्थात् पञ्चेन्द्रिय जीवों की अनुकम्पा करने से और
(४) सत्त्व अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, और वायुकाय इन चार स्थावरों की अनुकम्पा करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

इस प्रकार शास्त्रों में अनुकम्पा रूप धर्म का शुभ फल बतलाया गया है ॥७५॥

कोई साधु नाम धराय करे छै,
जीवरक्षा में पाप री थापो जी ।
(कहे) "प्राण भूत जीव ने सत्त्व,
रक्षा में एकंत पापो जी" ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

ऊंधी प्ररूपणा करे अज्ञानी,
ज्ञानी बोल्या धर प्रेमो जी ।
थाँ भूँडो दीठो, भूँडो सांभलियो,
भूँडो जाण्यो एमो जी ॥ चतुर० ॥ ७७ ॥

भावार्थः—कितनेक साधु नाम धराकर जीवरक्षा में पाप की स्थापना करते हैं। वे कहते हैं कि "प्राणी भूत जीव सत्त्व की रक्षा करने में एकान्त पाप होता है"। इस प्रकार जिनमार्ग से विपरीत प्ररूपणा करने वाले अज्ञानी जीवों को ज्ञानी पुरुष प्रेम पूर्वक कहते हैं कि:—

"एयं दुदिट्ठं दुस्सुयं दुण्णायं"

अर्थात्:—जीवरक्षा में पाप की प्ररूपणा करना तुमने खोटा देखा है, खोटा सुना है और खोटा जाना है। यह तुम्हारी प्ररूपणा अच्छी नहीं है। तुमने शास्त्रों को अच्छी तरह नहीं देखा है, अच्छी तरह नहीं सुना है और अच्छी तरह उनके तत्त्वों को नहीं समझा है। शास्त्रकारों ने जीवरक्षा को परम धर्म बतलाया है और यहाँ तक कहा है कि:—

'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं'

अर्थात्:—सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाये हैं।

भगवान ने जीवरक्षा का इतना महत्त्व बताया है कि जीवरक्षा रूप धर्म का प्रतिपादन करने के लिए ही जैनागमों की रचना हुई है। अतः जीवरक्षा में पाप बताना अनन्त तीर्थङ्करों के वचनों की आशातना करना है ॥७६—७७॥

जीव बचायां पाप परूपे,
या मूरख नर री वाणी जी।
ते भारीकर्मी जीव मिथ्याती,
शुद्ध बुद्धि नहिं पिछाणी जी ॥चतुर० ॥ ७८ ॥

भावार्थ:—'जीवरक्षा करना पाप है' यह प्ररूपणा मूर्खता पूर्ण है। ऐसे भारीकर्मा मिथ्यात्वी जीव को सद्ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है इसीलिए अज्ञानता के कारण वह जीवरक्षा रूप परम धर्म के कार्य में पाप बताता है ॥७८॥

त्याँ निरदयी ने आरज पूछयो,
थाँ ने बचायां धर्म के पापो जी।
तब कहे "म्हाँने बचायां धरम छै,"
सांच बोल ने कीधी थापो जी ॥ चतुर० ॥ ७९ ॥

भावार्थ:—जीवरक्षा में पाप बताने वाले निर्दयी लोगों से किसी आर्य पुरुष ने पूछा कि "यदि तुम्हें कोई मार रहा हो तब उस हिंसक के हाथ से तुम्हें कोई बचा दे तो धर्म होता है या

पाप ?" "तब तो वे झट उत्तर देते हैं कि हम को बचाने से तो धर्म होता है" ॥ ७६ ॥

थाँ ने बचाया थें धरम जो श्रद्धो,
तो सर्व जीवाँ रो इम जाणो जी ।
औरां ने बचायां पाप परूपो,
थें खोटी क्यों करो ताणो जी ॥ चतुर ॥ ८० ॥

भावार्थः- उनका उपरोक्त उत्तर सुन कर ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि-" जिस प्रकार तुम यह मानते हो कि तुम्हें बचाने से धर्म होता है उसी प्रकार सब जीवों के लिए भी तुम्हें ऐसा ही मानना चाहिए कि उन्हें बचाने से भी धर्म होता है, । क्यों कि कहा हैः-

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः, भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु, दयां कुर्वन्ति साधवः ॥

अर्थात् :- जिस प्रकार अपने प्राण अपने को प्यारे हैं उसी प्रकार संसार के समस्त जीवों को भी अपने अपने प्राण प्यारे हैं इस प्रकार सब जीवों कोआत्मवत् समझकर साधु पुरुष उन पर दया करते हैं ॥

अब वे लोग अपने को बचाने में धर्म मानते हैं तो दूसरे जीवों को बचाने में भी उन्हें धर्म मानना चाहिए। दूसरे जीवों की रक्षा करने में पाप की प्ररूपणा करना निर्दयी पुरुषों का कार्य है ॥८०॥

रक्षा में पाप बतावे त्यां ने,
सीधा धर्म सूं न्यारा जी ।

·अंग उपांग रा मूलपाठ में,
गणधरजी विस्ताराजी ॥ चतुर० ॥ ८१ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में कहा है किः—

'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं'

अर्थात्:—समस्त जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाये हैं।

इस प्रकार दूसरे सभी अंग उपाङ्ग सूत्रों में जीवरक्षा का माहात्म्य बतलाया गया है। जीवरक्षा में पाप बतलाने वाले धर्म से विमुख हैं अर्थात् वे अधर्मी एवं मिथ्यात्वी हैं॥८१॥

पर ने बचायां पाप परूपे,
निज ने बचाया में धर्मो जी।
या श्रद्धा विकलां री ऊंधी,
नहीं जाणे पूरो मर्मो जी ॥ चतुर० ॥ ८२ ॥

भावार्थः—जो अपने को बचाने में धर्म मानते हैं किन्तु दूसरे जीवों को बचाने में पाप कहते हैं वे स्वार्थी लोग हैं। वे धर्म के मर्म को नहीं जानते हैं। धर्म तो यह बतलाता है कि;—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः"

अर्थात्:—संसार के समस्त प्राणियों को आत्मवत् (अपने समान) समझो। सब जीवों को आत्मवत् समझने वाला पुरुष ही पण्डित पुरुष है। और भी कहा है किः—

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"

यही बात उन्हें जीवरक्षा के विषय में भी माननी चाहिए कि जीवरक्षा करते समय जो आरम्भ होता है वह पाप में है किन्तु जीवरक्षा धर्म का कार्य है। जिस प्रकार आरम्भ अलग और दर्शन एवं वन्दन अलग है उसी प्रकार आरम्भ अलग है और जीवरक्षा रूप अनुकम्पा अलग है और जिस प्रकार आने जाने की क्रिया रूप आरम्भ के सावद्य होने पर भी दर्शन एवं वन्दन सावद्य नहीं है उसी प्रकार जीवरक्षा के निमित्त होने वाले आरम्भ के सावद्य होने पर भी जीवरक्षा रूप अनुकम्पा सावद्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो आरम्भ को आरम्भ समझता है और धर्म को धर्म समझता है तथा आरम्भ को अलग और धर्म को उसे अलग समझता है उसकी श्रद्धा सम्यक् है किन्तु जो आरम्भ की क्रिया को धर्म के साथ जोड़कर उस धर्म के कार्य को पाप बताता है उसकी श्रद्धा मिथ्या है ॥८६-८७॥

पोता री सेवा रो लोभ धरी ने,
भोलां ने यों भरमावो जी।
श्रावक वत्सलता ने उठावा,
थें इसड़ी गाथा क्यों गावो जी ॥ चतुर० ॥ ८८ ॥

(कहे) छः काय जीवाँ रो घमसाण करने,
श्रावक ने जीमावे जी।
उणने मन्दबुद्धि कह दियो भगवन्ते,
तिण ने धर्म किसी विध थावे जी ॥ चतुर० ॥ ८९ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि, तुम अपनी सेवा के लालची बन कर अपने भक्त श्रावकों ...

की सेवा' का महान् लाभ बता कर अपने विहार के समय रास्ते में उन्हें साथ रखते हो जिससे तुम्हें आहार पानी आदि की किसी प्रकार की तकलीफ न उठानी पड़े। अपने सुख और सुविधा के लिए तो तुम लोग इस प्रकार 'रास्ते की सेवा' का महान लाभ बताते हो और स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता को उठाने के लिए उसमें पाप बताते हो और कहते हो कि 'छः काय जीवों का आरम्भ करके जो श्रावक को अपने घर भोजन कराता है वह मन्द बुद्धि है उसे धर्म नहीं होता'। इस प्रकार स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता में पाप क्यों बतलाते हो ? ॥८८-८९॥

(उत्तर) जो छ काय जीवां रो घमसाण करने,
साधु ने वन्दण आवे जी।
उणने मन्दबुद्धि थें मानो, ?
थारे धर्म किसी विध थावे जी ॥ चतुर० ॥ ९० ॥

भावार्थः—जो छः काय जीवों का आरम्भ करके स्वधर्मी वत्सलता करता है अर्थात् श्रावक को अपने घर जीमाता (भोजन कराता) है उसे तुम मन्दबुद्धि कहते हो तो फिर छः काय जीवों का आरम्भ करके अर्थात् आने जाने आदि की क्रिया करके तुम्हारे दर्शन करने के लिए आता है उसे मन्दबुद्धि क्यों नहीं कहते ? उसे धर्म होना क्यों कहते हो ? उसे भी पाप होना क्यों नहीं कहते ? ॥९०॥

(कहे) आरम्भ कारज मन्द बुद्धि में,
वन्दन भाव तो आछो जी।

श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने तो स्वधर्मी वत्सलता को समकित का आचार बतलाया है तुम (तेरह पन्थी) लोग उसमें पाप बताते हो तथा इससे (स्वधर्मी वत्सलता से) समकित का विनाश होना कहते हो। क्या तुम्हारा यह कथन भगवान् की आज्ञा से तथा शास्त्रों से विपरीत नहीं है ? यह तो प्रत्यक्ष ही भगवान् की आज्ञा से तथा शास्त्रों से विपरीत है, मिथ्या है ॥६४॥

वन्दन आरम्भ वत्सल आरम्भ,
दोनों सरीखा जाणो जी।
वन्दन भाव निर्मल भाखो,
वत्सल खोटा क्यों मानो जी ॥ चतुर० ॥ ६५ ॥

भावार्थः—ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जिस प्रकार वन्दना के निमित्त आरम्भ होता है उसी प्रकार स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता के निमित्त भी आरम्भ होता है। दोनों जगह आरम्भ का कार्य समान है फिर जिस प्रकार तुम (तेरह पन्थी) लोग वन्दन को धर्म में मानते हो उसी प्रकार स्वधर्मी वत्सलता को भी धर्म में क्यों नहीं मानते ? स्वधर्मी वत्सलता में पाप क्यों बतलाते हो ? आरम्भ तो दोनों जगह समान है फिर वन्दना को तो धर्म में कहना और स्वधर्मी वत्सलता को पाप में बताने का क्या कारण है ? ॥६५॥

ज्ञानी तो दोनों ही सरीखा जाणे,
थाँ ने ज्वाब न आवे जी।
एक ने थापे ने एक उथापे,
ते मूरख ने भरमावे जी ॥ चतुर० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—ज्ञानी पुरुष तो दोनों को समान समझते हैं अर्थात् जिस प्रकार वन्दन को धर्म में समझते हैं उसी प्रकार स्वधर्मी वत्सलता को भी धर्म में समझते हैं किन्तु जो लोग वन्दना के भूखे हैं, वन्दना के लोलुपी हैं और स्वधर्मी वत्सलता के द्वेषी हैं वे लोग वन्दना को तो धर्म में बतलाते हैं और स्वधर्मी वत्सलता को पाप में बतलाते हैं। परन्तु ऐसे वन्दना लोलुपी, स्वार्थी लोगों की बात को वही मानता है जो मूर्ख होता है। विद्वान् पुरुष तो उनकी स्वार्थ पूर्ण बातों को तत्काल पहचान लेता है और उन्हें मिथ्या अतएव हेय समझ कर त्याग देता है ॥६६॥

कोई तो जीवाँ ने मरता बचावे,
कोई करे सेवा साधर्मी जी।
तिण में एकान्त पाप बतावे,
ते एकान्त मिथ्या कर्मी जी ॥ चतुर० ॥ ६७ ॥

भावार्थः—कोई दयालु पुरुष मरते हुए प्राणियों की प्राण रक्षा करता है और कोई पुरुष स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता रूप सेवा करता है। ये दोनों अर्थात् जीवरक्षा और स्वधर्मी वत्सलता दोनों धर्म के कार्य हैं। इनमें एकान्त पाप बतलाने वाला मिथ्यात्वी है ॥६७॥

कोई जीवाँ रा दुःख मेट्या में,
एकान्त पाप बतावे जी।
त्याँ ने जाण मिले जिन-धर्म रो,
किण विध मारग लावे जी ॥ चतुर० ॥ ६८ ॥

भावार्थः—कोई दयालु पुरुष दुःखी प्राणियों के दुःख को मिटाता है उसमें जो लोग एकान्त पाप बतलाते हैं उन्हें जब जिनधर्म का ज्ञाता पुरुष मिलता है तब वह उन्हें किस प्रकार समझा कर सत्य मार्ग पर लाता है जिसके लिए यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है ॥९८॥

लोह री गोलो अग्नि तपायो,
 ते अग्नि वर्ण कर तातो जी ।
पकड़ संडासो लायो तिण पासे,
 बलतो गोलो भेलो हाथो जी ॥ चतुर० ॥ ९९ ॥

(जब) दया हीण हाथ पाछो खेंच्यो,
 तब जाण पुरुष कहे त्याँने जी ।
थें हाथ पाछो खींचो किण कारण,
 थांरी श्रद्धा मत राखो छाने जी ॥ चतुर० ॥ १०० ॥

जद कहे गोलो म्हें हाथ में ल्याँ तो,
 हाथ बले दुःख पावाँ जी ।
(तो थारा) हाथ बालता ने जो म्हें बरजाँ,
 तो धर्मी के पापी कहावां जी ॥ चतुर० ॥ १०१ ॥

(कहे) "(म्हारा) हाथ बालता ने जो कोई बरजे,
 तिण ने होसी धर्मो जी ।

तो दूजा रा हाथ बालता ने वरजे,
ते में क्यों कहो अधर्मो जी ॥ चतुर० ॥ १०२ ॥

इम सर्व जीव थें सरीखा जाणो,
थें सोच देखो मन माँई जी।
दुःख मेटण में पाप बतावा री,
कुबुद्धि तजो दुःखदाई जी ॥ चतुर० ॥ १०३ ॥

भावार्थः—किसी एक हिंसक पुरुष ने एक लोहे के गोले को अग्नि में डाल कर खूब तपाया। जब वह गोला तपकर अग्नि के समान लाल हो गया तब उस गोले को संडासी में पकड़ कर उस दयाहीन पुरुष के पास लाया, जो दूसरे जीवों के दुःख को मिटाने में पाप मानता था। वह उससे कहने लगा कि इस गोले को हाथ में लो। तब वह दयाहीन (दूसरे जीवों के दुःख मिटाने में पाप मानने वाला) पुरुष अपने हाथ को पीछे खींचने लगा। वहीं पर जिन धर्म का ज्ञाता (दूसरे जीवों के दुःख को मिटाने में धर्म मानने वाला पुरुष) एक पुरुष खड़ा था। वह उस दयाहीन को हाथ पीछे खींचते देखकर उससे कहने लगा कि—"तुम अपने हाथ पीछे क्यों खींचते हो ? तुम्हारे मन में जो बात हो सो स्पष्ट कहो।" तब वह दयाहीन पुरुष कहने लगा कि यदि मैं इस गोले को अपने हाथों में लूँ तो मेरे हाथ जल जाएँगे जिससे मुझे अत्यन्त दुःख होगा। तब वह जिन-धर्म का ज्ञाता पुरुष कहने लगा कि यदि मैं इस हिंसक पुरुष को तुम्हारे हाथ जलाने से रोक दूँ तो मुझे धर्म होगा या पाप ? तब वह दयाहीन पुरुष कहने लगा कि जो कोई पुरुष मेरे हाथ जलाने से रोक देगा उसे

धर्म होगा क्योंकि मेरी अन्तरात्मा यह कह रही है कि मेरे हाथ जलने से मुझे अत्यन्त दुःख होगा। इस लिए जो पुरुष इसे मेरे हाथ जलाने से रोक देगा उसे धर्म होगा। तब वह जिनधर्म का ज्ञाता पुरुष उस दयाहीन पुरुष से कहने लगा कि जब तुम अपने हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को धर्म होना मानते हो तो फिर जो पुरुष दूसरे जीवों के हाथ जलाने से रोकता है, उनके दुःखों को मिटाता है उसमें तुम पाप क्यों मानते हो? जिस प्रकार तुमको अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार समस्त जीवों को अपने अपने प्राण प्यारे हैं और जिस प्रकार तुम्हारे हाथ जलाने से तुम्हें दुःख होता है उसी प्रकार दूसरे जीवों को भी दुःख होता है। जिस प्रकार तुम्हारा दुःख मिटाने वाले को तुम धर्म होना मानते हो उसी प्रकार जो दूसरे प्राणियों के दुःख को मिटाता है उसमें भी तुम्हें धर्म मानना चाहिए। दूसरे प्राणियों के दुःख को मिटाने में पाप मानना कुबुद्धि है, यह कुबुद्धि दुःखदायिनी है। इसे छोड़ दो।

इस प्रकार समझाने पर सरल हृदय वाला पुरुष तो समझ कर शुद्ध रास्ते पर आ जाता है और अपना आत्म-कल्याण साध लेता है किन्तु जो पुरुष हठाग्रही होता है वह अपने हठ को नहीं छोड़ता। जिस प्रकार मूर्ख पुरुष पकड़ी हुई गधे की पूंछ को नहीं छोड़ता। वह गधे की लातें खाता हुआ अपने दाँत तुड़वाता है, मुँह फुड़वाता है और अत्यन्त दुःखी होता है इसी प्रकार जो हठाग्रही पुरुष अपने हठ को नहीं छोड़ता है वह यमदूतों (परमाधार्मिकों) की लातें खाता हुआ और नरक की अनेक यातनाएँ सहन करता हुआ नरक निगोदादि में अनन्त काल तक भ्रमण करता रहता है।

इसलिए मिथ्या हठ को छोड़ कर वास्तविक तत्त्व को समझ कर शुद्ध श्रद्धा ग्रहण करनी चाहिए। इसी से आत्मा का कल्याण होता है ॥९०-१०३॥

थारा हाथ जलाता ने वर्जे,
ते में तो धर्म बतावो जी।
औरॉं रा राखे तो पाप बताओ,
ऐसी क्यों कुमति ठावो जी ॥ चतुर० ॥ १०४ ॥

भावार्थः—उन लोगों से कहना चाहिए कि तुम्हारे हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को तुम धर्म होना मानते हो किन्तु दूसरे प्राणियों के हाथों को जलाने से रोकने वाले को तुम पाप होना क्यों मानते हो ? यह कुमति तुम्हें कहाँ से उत्पन्न हुई है ? इस कुमति का त्याग कर तुम्हें सुमति (सद्बुद्धि) ग्रहण करनी चाहिए और जिस प्रकार तुम्हारे हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को तुम धर्म होना मानते हो उसी प्रकार दूसरों के हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को भी तुम्हें धर्म होना मानना चाहिए ॥१०४॥

जे जीव बचावा में पाप कहे छै,
रुले ते काल अनन्तो जी।
विपरीत श्रद्धा रा फल है खोटा,
भाख गया भगवन्तो जी ॥ चतुर० ॥ १०५ ॥

भावार्थः—जो जीवरक्षा में पाप कहते हैं वे अनन्त काल तक नरक निगोदादि गतियों में परिभ्रमण करते हुए संसार पर्यटन

करते रहते हैं क्योंकि जीवरक्षा में पाप बताना शास्त्रों से विपरीत श्रद्धा है। श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने विपरीत श्रद्धा का फल महान् दुःखदायी बतलाया है। इसीलिए 'जीवरक्षा' में पाप बताने वाला अनन्त काल तक नरक निगोदादि की असह्य यातनाएं सहन करता है ॥१०५॥

साधाँ रे काजे छः काया हणी ने,
जागा करे छै त्यारो जी।
ढोले, लीपे, छावे संभाले,
ते साधु करे इखत्यारो जी ॥ चतुर० ॥ १०६ ॥

अनन्त जीवाँ री घात, हुई तिहाँ,
हर्ष से करे निवासो जी।
पूछया थी कल्पनीक बतावे,
विकलाँ री जीवो तमाशो जी ॥ चतुर० ॥१०७॥

भावार्थः—उन भीषणमतानुयायी साधुओं के ठहरने के लिए उनके भक्त श्रावक मकान बनवाते हैं, उन्हें लीपते हैं, पुताते हैं, मरम्मत आदि करवाते हैं जिसमें पृथ्वी पानी वनस्पति आदि छः काया के अनन्त जीवों की हिंसा होती है। उन मकानों में वे साधु हर्षपूर्वक ठहरते हैं। उन मकानों के बनवाने में छः काया के अनन्त जीवों की हिंसा उन साधुओं के निमित्त होती है फिर भी पूछने पर वे साधु कहते हैं कि यह मकान तो कल्पनिक (निर्दोष) है। ये मकान हमारे निमित्त नहीं बनाये गये हैं। इस प्रकार वे असत्य भाषण करते हुए जरा भी नहीं शर्माते। यह अज्ञानी जीवों का तमाशा है ॥१०६-१०७॥

(कहे) "धर्म रे कारण हिंसा कीधां,
बोधबीज रो नाशो जी।"
तो साधु काजे हिंसा करी ते,
तिण घर में क्यों करो वासो जी ॥ च० ॥ १०८॥

'पुरुपान्तकड' रो नाम लेई ने,
सेज्जान्तर धर्म बतावो जी।
धर्म रे काजे हिंसा हुई यहां,
तेने मिथ्यात क्यों न बतावोजी ॥ च० ॥ १०६ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि जो पुरुष धर्म के निमित्त हिंसा करता है उसकी समकित का विनाश होता है तो उनसे (भीषणमतानुयायी साधुओं से) पूछना चाहिए कि जिसने छः काया के अनन्त जीवों की हिंसा करके तुम्हारे लिए मकान तय्यार करवाया है उसे तुम मिथ्यात्वी क्यों नहीं कहते ? और तुम उस मकान में क्यों ठहरते हो ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर कुछ नहीं आने के कारण वे कपटपूर्वक असत्य भाषण करते हुए कहते हैं कि—'यह मकान हमारे लिए नहीं बनवाया गया है, यह तो 'पुरुपान्तकड' है अर्थात् दूसरों के लिए बनवाया गया है। इसलिए हम इसमें ठहरते हैं। हमारे ठहरने से इस मकान बनवाने वाले मालिक को शय्यातर का धर्म होता है।"

इस प्रकार वे भीषणमतानुयायी साधु अपने निमित्त (साधु के निमित्त) बनाये हुए मकान में ठहरते और पूछने पर कपट-पूर्वक असत्य भाषण करते हैं ॥ १०८-१०६ ॥

अनुकम्पा उपकारे आरम्भ,
तो अनुकम्पा पाप में गावे जी ॥ च० ॥ ११३ ॥

भावार्थः—दर्शन, दान आदि उन लोगों से सम्बन्धित ऐसे अनेक कार्य हैं जिनमें धर्म कार्य को अलग धर्म में और उसके लिए होने वाले आरम्भादि को अलग पाप में कहते हैं किन्तु अनुकम्पा और उपकारादि के कार्यों में आरम्भ का नाम लेकर उन्हें एकान्त पाप में बतलाते हैं। अनुकम्पा और उपकारादि के धर्म कार्य को अलग और उसके लिए होने वाले आरम्भ को अलग नहीं बतलाते किन्तु आरम्भ को अनुकम्पा के साथ जोड़ कर अनुकम्पा रूप परमधर्म को भी पाप में ही बतलाते हैं। यह उनका पक्षपात पूर्ण हठाग्रह है। वे जिस प्रकार उनके दर्शन और दान को धर्म में और दर्शन और दान के लिए होने वाले आरम्भ को पाप में मानते हैं उसी प्रकार अनुकम्पा को धर्म में और उसके लिए होने वाले आरम्भादि को पाप में मानना चाहिए ॥११३॥

एकेन्द्रिय मरे पंचेन्द्रिय रक्षा,
(तिण में) एकान्त पाप सिखावे जी।
एकेन्द्रिय मारी ने साधाँ ने देवे,
तिण ने तो धर्म बतावे जी ॥ च० ॥ ११४ ॥

भावार्थः—जिस कार्य में एकेन्द्रिय (पानी, वनस्पति आदि) जीवों की हिंसा से पञ्चेन्द्रिय (मनुष्य आदि) जीव की रक्षा होती है उस कार्य को वे लोग एकान्त पाप में बतलाते हैं किन्तु उनके भक्त श्रावक एकेन्द्रिय (पानी, वनस्पति आदि) जीवों

की हिंसा करके उन्हें (साधुओं को) आहार पानी बहराते (देते) हैं उसमें वे महान् लाभ बतलाते हैं। जब वे एकेन्द्रिय की हिंसा से पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा में पाप मानते हैं तब साधुओं को आहार पानी देने में भी उन्हें पाप मानना चाहिए क्योंकि इसमें भी तो एकेन्द्रिय (पानी वनस्पति आदि) जीवों की हिंसा से पंचेन्द्रिय जीवों की (साधुओं की) रक्षा होती है। उनके सिद्धान्तानुसार उनका साधुदान भी पाप में ठहरता है ॥११४॥

छः काया हणतो साथे जावे,
(तिण ने) रक्षा री सेवा बतावे जी।
त्याग कराय साथे ले जावे,
धर्म रो लोभ दिखावे जी ॥ च० ॥ ११५ ॥

निज स्वारथिया आहार रा अर्थी,
भोलाँ ने भरमावे जी।
गाड़ी घोड़ा लश्कर रे साथे,
उमाया उमाया जावे जी ॥ च० ॥ ११६ ॥

स्वारथे हिंसा याद न आवे,
पर-उपकार में गावे जी।
अठारे पाप रो नाम लेई ने,
मूरख ने भरमावे जी ॥ च० ॥ ११७ ॥

भावार्थः—एक ग्राम से विहार कर दूसरे ग्राम को जाते समय उन साधुओं के साथ रह कर रास्ते में यथा समय माल-मिष्टान्न आदि बना कर साधुओं को बहराना (देना) रास्ते की

सेवा' कहलाती है। 'रास्ते की सेवा' करने से धर्म का महान् लाभ होता है। इस प्रकार तेरहपन्थी साधु अपने अन्ध श्रद्धालु भक्तों को धर्म का लोभ दिखा कर उन्हें 'रास्ते की सेवा' का नियम करवाते हैं और उन्हें रास्ते में अपने साथ रखते हैं। वे अन्ध श्रद्धालु भक्त छः काय जीवों की हिंसा करते हुए गाड़ी, घोड़ा, बहुत से पैदल आदमियों को साथ लेकर इस तरह चलते हैं मानो कोई फौज चल रही हो। रास्ते में छोटे गाँव में जहाँ साधुओं को ठहराना होता है वहाँ पहुँच कर अपना पड़ाव डालते हैं और झटपट मिष्टान्न आदि माल तय्यार करते हैं। फिर उन साधुओं के पास जाकर कहते हैं "महाराज! भावना भाते हैं।" अर्थात् आहार पानी सब तय्यार है। आप पधार कर ले आइये। इतना सुनते ही वे साधु अपने पातरें (पात्र) लेकर वहाँ पहुँच जाते हैं और इच्छानुसार मेवा मिष्टान्न आदि ले आते हैं।

इस प्रकार 'रास्ते की सेवा' का महान् लाभ बता कर अपने अन्ध श्रद्धालु भक्तों को साथ रखते हैं जिसमें रास्ते में आहार पानी आदि की किसी प्रकार की तकलीफ नहीं उठानी पड़ती। इस प्रकार 'रास्ते की सेवा' में धर्म बताने में उन साधुओं का अपना निजी स्वार्थ है। इसमें होने वाली हिंसा की तरफ वे ध्यान ही नहीं देते हैं किन्तु जीवरक्षा एवं परोपकार के कार्य में वे पाप बताने लगते हैं, एक पाप नहीं किन्तु जीवरक्षा और परोपकार के कार्य में एक साथ हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन आदि अठारह पाप होना बतलाते हैं। अपने स्वार्थ की पूर्ति में होने वाली जीवहिंसा की तरफ ध्यान न देकर उसको धर्म बताना और जीवरक्षा एवं परोपकार के कार्यों में पाप बताना स्वार्थी लोगों का कार्य है ॥११५-११७॥

(कहे) आरम्भ लागां उपकार हुवे तो,
भूठ चोरी थी पिण होसी जी ।
अठारे ही पापों रो नाम बतावे,
ते पर-उपकार रा रोषी जी ॥ च० ॥ ११८ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि—"आरम्भ लग कर जीवरक्षा आदि जो उपकार होता है उसमें यदि धर्म माना जायगा तो भूठ बोल कर, चोरी करके, व्यभिचार सेवन करके जो उपकार किया जायगा उसमें भी धर्म मानना पड़ेगा" इस प्रकार अठारह ही पापों का नाम लेकर वे लोग जीवरक्षा एवं परोपकार के कार्यों में पाप बतलाने की धृष्टता करते हैं। वे जीव-रक्षा एवं परोपकार के द्वेषी हैं ॥११८॥

(उत्तर) चोरी करी थारा दर्शन खातिर,
कुड़ी साख भरी धन लावे जी ।
तिण धन थी थारो दर्शण कीधा,
थारी भावना भावे जी ॥ च० ॥ ११९ ॥

आरम्भ कर आयो दर्शण काजे,
तिण ने धर्म बताओ जी ।
तो चोरी जारी रा धन थी वंद्यां,
तिण में पिण धर्म दिखावो जी ॥ च० ॥ १२० ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी साधुओं के भक्त श्रावक घोड़ा-गाड़ी, रेलगाड़ी आदि में बैठ कर उनके दर्शन करने के लिए

जिन मारग की नींव है रक्षा,
खोजी हुवे ते पावे जी।
जीव बचाया धर्म है निरमल,
दधि मथियां घी आवे जी॥ च० ॥ १२५ ॥

भावार्थः—जीवरक्षा करना जैनधर्म की नींव है क्योंकि प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में कहा गया है कि:—

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्टयाए पावयणं भगवया सुकहियं"

अर्थात्:—समस्त जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाये हैं।

श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने यह पाठ फरमा कर यह बतला दिया है कि जैनागमों की रचना का मूल कारण 'जीवरक्षा' है अर्थात् जीवरक्षा रूप निर्मल धर्म के लिए ही जैनागमों की रचना हुई है। जिस प्रकार दही को मथने से मक्खन निकलता है उसी प्रकार जो पुरुष जिज्ञासु बन कर जैनागमों का मथन करता है अर्थात् जैनागमों का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करता है वही पुरुष जीवरक्षा रूप परमधर्म के रहस्य को जान सकता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को जीवरक्षा के निर्मल धर्म रूप मक्खन की प्राप्ति के लिए जैनागमों का सतत अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करना चाहिए॥१२५॥

जीवरक्षा में पाप बतावे,
ते जल में लाय लगावे जी,